

मार्क्सवाद

उत्थान और पतन

- डा. गौरीनाथ रस्तोगी

393



माक्सवाद : उत्थान और पतन

सेवा में,

माननीय श्री

इन्डेशनुमार,

हिमाचली

393

: लेखक

डा० गौरीनाथ रस्तोगी

एम०ए०, पीएच०डी०

भूमिका :

श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी

प्रकाशक :

लोकहित प्रकाशन :

राजेन्द्र नगर

लखनऊ-२२६००४

मूल्य-रु० ६.००

प्रथम संस्करण

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी

भाद्रपद कृष्ण ८ युगाब्द ५०६३

संवत् २०४८

मुद्रक : कौशल प्रेस, राजेन्द्र नगर, लखनऊ-४

अनुक्रमणिका

१. विषय-प्रवेश	७
२. मार्क्सवाद या कम्युनिज्म की आधारभूत सोच	१०
३. मार्क्सवादी दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त	२०
४. लेनिन और लेनिनवाद	३८
५. स्टालिन तथा उसके उत्तराधिकारी	५०
६. भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का जन्म और विकास	५८
७. स्वाधीन भारत में कम्युनिस्टों की भूमिका	७६
८. उपसंहार	६६

भूमिका

डा० गौरीनाथ जी रस्तोगी का यह ग्रन्थ उचित समय पर प्रकाशित हो रहा है। पेरेस्ट्राइक तथा ग्लासनाॅस्ट का रूस में चला हुआ नया प्रयोग, और हंगरी, पोलैंड, पूर्वी जर्मनी, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया, बल्गेरिया यूगो-स्लाविया तथा अल्बेनिया की क्रान्तिकारी घटनाओं की पृष्ठभूमि पर डा० रस्तोगी जी की यह कृति और भी प्रयोजनिक तथा महत्वपूर्ण बन जाती है।

डा० रस्तोगी का किया हुआ प्रतिपादन स्वयं पूर्ण तथा स्वयं-सिद्ध है। इस कारण उस पर या उसमें कुछ नये तथ्य और तर्क जोड़ना अनावश्यक प्रतीत होता है। डा० एस० व्ही० शेषगिरी राव के पश्चात् उतना ही महत्वपूर्ण दूसरा दस्तावेज यानि यह ग्रन्थ है। डा० राव के ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् यूरोप में चल पड़ा घटना चक्र सभी के लिए आश्चर्य-जनक या उसकी जानकारी का लाभ इस ग्रन्थ के लेखन के समय हो सका यह इसकी विशेषता है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से निम्न सनातन सत्य समझने में सहायता होगी :-

भारत में सम्पूर्ण जीवन के लिये संदर्भ बिन्दु धर्म को माना गया है। जो-जो कार्य या विचार धर्म के अनुकूल रहेगा वह यशस्वी रहेगा, और जो-जो कार्य या विचार धर्म के प्रतिकूल रहेगा वह सफल हो ही नहीं सकता, यह भारत की मान्यता है। उदाहरण के लिए, काम-विकार को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु माना गया है। किन्तु यह काम भी जब धर्म के अविरोध रहता है तब वह मेरा ही स्वरूप बन जाता है, ऐसा भगवान् कृष्ण ने कहा है। किन्तु अच्छे से अच्छे सद्गुण भी जब धर्म विसंगत बन जाते हैं तब वह नाशकारी बनते हैं।

धर्म बाह्य किसी भी कार्य या विचार में कालांतर में घोर अन्त-विरोध निर्माण होता है यह प्रकृति का नियम है, फिर उसको तुरन्त कितना भी यश प्राप्त होता हुआ दिखाई दे-ऐसा यश चिरस्थायी हो नहीं सकता, क्योंकि उसके पेट में ही उसकी समाप्ति के बीज अन्तर्लिप्त रहते हैं। किन्तु धर्मानुकूल किसी भी कार्य या विचार में इस तरह का अन्तर्विरोध निर्माण नहीं होता, इस कारण वह कार्य या विचार तब तक सफल ही रहता है जब तक उसमें अधर्म का प्रभाव नहीं बढ़ता। यश के पेट में अपयश के बीज तथा अपयश के पेट में यश के बीज यह नियम यह सभी धर्मवाह्य बातों के लिये निरपवाद रूप में लागू होता है। हिन्दू इतिहास में जो उतार चढ़ाव आये उनका भी स्पष्टीकरण इसी सिद्धान्त में मिलता है।

आधुनिक काल में जितनी विचारधारायें पश्चिम में निर्माण हुई वे सब विशुद्ध भौतिकतावादी एवं धर्म से विसंगत रही हैं। इसी कारण उनमें से हर एक में अन्तर्विरोध निर्माण होना अपरिहार्य है। कम्युनिज्म का इतिहास भी इसी बात का साक्षी है।

डा० रस्तोगी ने किया हुआ विवरण, विश्लेषण तथा प्रतिपादन हमारे लिए अति उपयुक्त हो सकता है यदि हमने उपरनिर्दिष्ट प्रकृति नियम के प्रकाश में उसका अध्ययन किया। कहा जाता है कि विवेकी पुरुष स्वयं ठोकर खाने की प्रतीक्षा नहीं करता। चलते चलते सामने के व्यक्ति को यदि ठोकर लग जाती है तो उसी के उदाहरण से वह सबक सीख जाता है और सम्भावित हानि टाल देता है।

आज की स्थित्यन्तर की अवस्था में हम सब अपना अगला मार्ग ढूँढ़ रहे हैं तब डा० रस्तोगी का यह ग्रन्थ हमारे राष्ट्रीय प्रयास में बहुत महत्वपूर्ण योगदान करने की क्षमता रखता है।

मैं इस कृति के लिए डा० रस्तोगी का हृदयपूर्वक अभिनन्दन करता हूँ।

दिनांक २४ अगस्त १९६१
नई दिल्ली

— द० वा० ठेंगड़ी
भारतीय मजदूर संघ,

मनोगत

माक्सवाद १९ वीं-२० वीं शताब्दी की एक विश्वव्यापी प्रमुख राजनीतिक विचारधारा और दर्शन रहा है। माक्स और एंजिल्स ने उसका जहाँ सैद्धांतिक विश्लेषण किया वहीं लेनिन और उसके अनुयायियों ने सोवियत क्रांति करते हुए उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। अक्टूबर, १९१७ की बोलशेविक क्रान्ति से पहले माक्स के सिद्धान्तों पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा करके उसकी प्रखर आलोचना करने का जो सिलसिला पूरे योरप में चल रहा था उसका प्रत्युत्तर देते हुए उसे अपने तरीके से तर्क-शुद्ध और दोष-रहित बनाने का महत् कार्य माक्स के निष्ठावान अनुयायी ब्लादिमिर इलिच उल्यानोव उग्राख्य लेनिन ने ही किया था। यह बात अलग है कि ऐसा करते समय 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरं' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर उसने उसका स्वरूप और भी अधिक विकृत कर दिया। उसके उत्तराधिकारियों—जोसेफ स्टालिन आदि के हाथों में पड़कर माक्सवाद पाशविक बन गया।

इसी बीच दूसरा महायुद्ध छिड़ गया और प्रबल सैनिक शक्ति के भरोसे स्टालिन ने संपूर्ण पूर्वी योरप को कम्युनिस्ट छाते के अन्दर लेकर विश्व को दो परस्पर-विरोधी शक्ति गुटों में बांट दिया। फलस्वरूप अनेक लोग माक्सवाद के प्रचार-प्रसार से चकाचौंध हो गये। भारत में भी

अनेक बुद्धिजीवी व्यक्ति उससे प्रभावित होकर कम्युनिस्ट विचारधारा से जुड़ गये और भारत के लाल हो जाने का मधुर स्वप्न देखने लगे ।

किन्तु भौतिकतावाद के एकांगी आधार को लेकर चलने वाला यह लंगड़ा मार्क्सवादी दर्शन अधिक समय तक अपने पैर पर खड़ा नहीं हो सकता था । फलस्वरूप उसका पतन और विनाश शुरू हो गया और आज वह अपने-आप में एक बोझ बनकर स्वतः नष्ट हो रहा है ।

प्रस्तुतः पुस्तक इसी गाथा का तथ्यपूर्ण, रोचक एवं सरल भाषा में विवरण देने का एक लघु प्रयास है । इसकी प्रेरणा अग्रज श्रद्धेय अनन्त रामचन्द्र गोखले जी से प्राप्त हुई है । लेखक उनके प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञ है ।

यदि यह पुस्तक पाठकों को अधिकचरे आदर्शों पर आधारित मार्क्सवादी दर्शन के खोखलेपन की जानकारी देते हुए उसके वास्तविक स्वरूप से उन्हें परिचित करा सके तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा ।

अन्त में लोकहित प्रकाशन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मेरा कर्तव्य है जिन्होंने इन विचारों को पुस्तक के रूप में पाठकों तक पहुंचाने में सहायता की है ।

गौरीनाथ रस्तोगी

एम० ए०, पी एच० डी०

अध्याय एक

विषय प्रवेश

पिछले लगभग डेढ़ सौ वर्षों के दौरान समाजवाद ने पूरे यूरोप और पश्चिमी जगत को प्रभावित कर रखा है। दूसरी बड़ी लड़ाई के बाद एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में भी उसने पैर पसारें हैं। लेकिन १९ वीं शताब्दी के मध्य तक समाजवाद का संबंध मुख्य रूप से औद्योगिक समाज में काम करने वाले मजदूरों के हितों से ही था और ट्रेड-यूनियनों के संदर्भ में उसकी नीतियाँ विकसित की गयीं थीं। फिर भी सर्वहारा या श्रमिकों के समाजवाद के सिद्धान्तिक उद्गम का श्रेय १९ वीं शताब्दी के तीन प्रमुख जर्मन विचारकों को प्राप्त है। पर इनमें से एक भी स्वयं श्रमिक नहीं था। पहले जर्मन विचारक फर्डिनाण्ड लासाले का जन्म सन् १८१५ में एक संपन्न यहूदी परिवार में हुआ था और ४६ वर्ष की अल्पायु तक वह जीवित रहा। समाजवादी विचारक के रूप में 'मजदूरी के लौह नियम' के सिद्धान्त के आधार पर संगठित श्रमिक शक्ति के द्वारा राज्य सत्ता का उनके हित में प्रयोग करने वाला पहला विचारक वही था। जर्मन समाजवादी लोकतांत्रिक दल के नाम से प्रसिद्ध जर्मन श्रमिक संघ की स्थापना सन् १८६३ में उसने ही की थी।

माक्स और एंजिल्स

अन्य दो प्रमुख जर्मन समाजवादी कार्ल माक्स और फ्रेडरिक एंजिल्स हैं। लासाले के समकालीन इन विचारकों में माक्स १८१८-१८८३ और

एंजिल्स १८२०-१८६५ तक जीवित रहे। बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त प्रतिभावान् एंजिल्स को संसार मार्क्स के अभिन्न मित्र, सहयोगी, हितचिन्तक और उसके सिद्धान्तों के व्याख्याकार के रूप में जानता है।

प्रशा के एक निष्ठावान् ईसाई प्रोटेस्टेंट और सम्पन्न व्यापारिक परिवार में जन्म लेने वाले एंजिल्स ने ब्रिटेन के मैनचेस्टर स्थित नगर में अपने वाणिज्यिक-व्यापारिक प्रतिष्ठानों की देख-रेख के लिये अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग ब्रिटेन में ही बिताया था। उससे गहरी मित्रता हो जाने के कारण ही मार्क्स ने १८४६ से १८८३ तक का अपना जीवन लन्दन में व्यतीत किया था।

प्रशा के ही एक सम्पन्न यहूदी परिवार में ५ मई, १८१८ को जन्म लेने वाले मार्क्स के पिता द्वारा यहूदी धर्म छोड़कर ईसाइयत को अपनाने का इतना गहरा प्रभाव मार्क्स पर पड़ा कि वह यहूदियों का कटु आलोचक बन गया और धर्म को अफीम की संज्ञा प्रदान कर बैठा।

अत्यन्त प्रतिभाशाली कार्ल मार्क्स के अध्ययन के मार्ग में अनेक विघ्न बाधाएँ आईं पर अन्ततः इतिहास और अर्थशास्त्र का गहरा अध्ययन करते हुए सन् १८४१ में जर्मनी के जेना विश्वविद्यालय से उसने पी० एच० डी० की उपाधि ससम्मान प्राप्त कर ली। इस बीच उसका विवाह जेनीवान वेस्टफेलेन नामक एक अमीर बाप की बेटी से हो गया था और सन् १८३८ में उसके पिता की मृत्यु हो गयी थी।

प्रबल इच्छा होने के बावजूद उसके अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण वह जर्मनी के किसी भी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त नहीं हो सका। फिर भी विद्यार्थी जीवन में ही वह 'युवा हीगेलवादी संगठन' का सदस्य बनकर बड़े मनोवेग से हीगेलवादी दर्शन का अध्ययन करता था। अब पत्रकारिता को अपनाकर वह जनान्दोलनों में भाग लेने लगा और यूरोप में हुई औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवादी व्यवस्था का अध्ययन करते हुए उसने अपने वैज्ञानिक समाजवाद के मुख्य सिद्धान्त ढूँढ़ निकाले और जीवन भर वह उनके प्रचार-प्रसार में लगा रहा।

सन् १८४६ में लन्दन में बसने से पहले वह फ्रांस के सुप्रसिद्ध विचारक प्रोथों, फ्रेडरिक एंजिल्स, काबेट, बाकुनिन, हेन, बोलफ और मेजिनी आदि से मिल चुका था। इस बीच सन् १८४२ में जर्मनी छोड़ने पर विवश होने के बाद आगे के सात-आठ वर्षों तक वह कोलोन, पेरिस, ब्रसेल्स और फिर कोलोन आदि में भटकता रहा था। इसी बीच वह कम्युनिस्ट लोग का सदस्य बन गया था। सन् १८४८ की पेरिस क्रान्ति में भाग लेने के लिये जब वह वहाँ पहुँचा तब तक क्रान्ति-विरोधी तत्व प्रबल हो गये थे। अतः उसे वहाँ से भागना पड़ा। उसी वर्ष उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' प्रकाशित हुई और सन् १८६७ में 'दास-कैपिटल' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना उसने की। उसने अन्य अनेक पुस्तकें भी लिखीं। फिर भी समस्त संसार में उसके यही दोनों ग्रन्थ मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद की बाइबिल माने जाते हैं।

अपने लेखन-कार्य के साथ-साथ मार्क्स यूरोप में चलने वाले समाजवादी आंदोलन से गहरे रूप में जुड़ा रहा। सन् १८६४ में हुए प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी संघ की प्रमुख प्रेरक शक्ति वही था। उस समय से सन् १८८३ में अपनी मृत्यु-पर्यन्त मार्क्सवाद या कम्युनिज्म का सर्वप्रमुख नेता वही बना रहा।

१८ वीं १९ वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में संत साइमन, चार्ल्स, फोरियर, काबेट, राबर्ट ओवेन, चार्ल्स किंगले, फ्रेडरिक मॉरिस जे० एम० लुडलो, विलियम थाम्पसन और जॉन फ्रांसिस बे आदि ने बैठकों, सम्मेलनों, निःशुल्क रात्रि पाठशालाओं एवं पत्रिकाओं आदि के माध्यम से औद्योगिक मजदूरों के बीच समाजवादी विचारों का प्रसार किया था और उन्हें सह-कारी उत्पादक संगठन बनाने के लिये प्रोत्साहित किया था। लेकिन उस समय की महत्वपूर्ण आर्थिक राजनीतिक समस्याओं का कोई उचित समाधान न होने और ट्रेड-यूनियन आन्दोलन से गहरा संबंध न होने के कारण उन्हें प्रायः 'कल्पनालोक में विचरण करने वाला समाजवादी' माना जाता है। मार्क्स और एंजिल्स ने तो उन्हें कोई महत्व दिया ही नहीं है।

अध्याय दो

मार्क्सवाद या कम्युनिज्म की आधारभूत सोच

अपने इस मार्क्सवाद या कम्युनिज्म की व्याख्या करने के लिये मार्क्स ने इस सृष्टि के विकास का मूल खोजने और उसके अन्तिम गन्तव्य के साथ उसके पहुंचने के मार्ग का विस्तृत विवरण देने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में मार्क्स और एंजिल्स का दावा है कि वे सभी तरह के पूर्वाग्रहों से मुक्त रहकर निष्पक्ष एवं वस्तु परक दृष्टि से तथ्यों के आधार पर सृष्टि या ब्रह्मांड के विकास-क्रम का तर्कयुक्त विश्लेषण संसार के सामने रख रहे हैं। किन्तु सच्चाई यह है कि ऐसा करते समय ये विचारक औद्योगिक क्रांति के बाद से १९ वीं शताब्दी तक यूरोप में हुई ज्ञान-विज्ञान की प्रगति तक ही अपने आपको सीमित रखे हुए हैं। बहुत प्राचीन समय से यूरोप की चहार दीवारी के बाहर प्राच्य संसार में भारत, चीन आदि देशों में हुई मानवीय प्रगति की उन्हें तनिक भी जानकारी नहीं थी। इसके विपरीत मार्क्स की भारत के प्रति धारणा अत्यन्त कलुषित थी और उसे यहाँ के श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों और शाश्वत समाज-रचना के सिद्धान्तों का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं था। वैज्ञानिकता का दम भरने के आवज्जूद उसके चिन्तन का समस्त आधार यूरोपीय जीवन व्यवस्था पर आधारित था। उदाहरण के लिये मार्क्स के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और परिवार सम्बन्धी विचारों को ही ले लें। उन पर हमें यूरोपीय व्यवस्था की अमिट छाप दिखायी देती है। इस

संबंध में भारतीय संविधान के निर्माता एवं सुप्रसिद्ध विद्वान डा० भीमराव अम्बेडकर का कहना है कि यूरोप में पहले राष्ट्रीयता नहीं 'कबीलावाद' प्रचलित था। कबीलावादी व्यवस्था का मतलब होता है टोलियों में रहना। वहाँ कृषि का अन्वेषण न होने की वजह से लोग कबीलों में रहते थे और पशु-पालन एवं शिकार करते थे। अपने पशुओं के खाने के लिये चारा प्राप्त करने और अपने भूखे पेट की ज्वाला शान्त करने के उद्देश्य से ये खानाबदोश टोलियाँ या कबीले एक स्थान से दूसरे स्थान पर उनकी तलाश में निरन्तर भटकते रहते थे। अनवरत भ्रमण करना उनकी जीवन चर्चा थी। फलस्वरूप किसी एक भूखंड के बारे में आत्मीयता और एकान्तिक निष्ठा का श्रेष्ठ भाव इन कबीलों के मन में नहीं था। इसके विपरीत अपने देश में हमें यह दिखायी देता है कि राक्षस राज रावण का वध करने के बाद भगवान रामचन्द्र जी अपने अनुज लक्ष्मण से कहते हैं—

“अपि स्वर्णमयी लंका न में लक्ष्मण रोचते।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

अर्थात् सोने की यह लंका मुझे आकर्षित नहीं करती क्योंकि मातृभूमि तो स्वर्ग से भी महान् होती है।”

कवायली संस्कृति

यूरोप की यह कवायली संस्कृति वहाँ लम्बे समय तक चलती रही। बहुत बाद में जब वहाँ कृषि की खोज हुई और खेती करने के लिये एक स्थान पर टिक कर रहना आवश्यक हो गया तभी वहाँ के लोगों के मनो में भूमि के संबंध में कुछ लगाव उत्पन्न हो सका। फिर भी भूमि के प्रति यह अपनत्व किसी सांस्कृतिक निष्ठा पर आधारित न होकर यूरोपीय जातियों के अपने उदर की ज्वाला को शान्त करने से उत्पन्न हुआ था। अतः उसमें पवित्रता का कोई भाव नहीं था। इसके बाद ट्रिस्को जर्मन हमलों और पोप की अधिसत्ता के विरुद्ध राजाओं के विद्रोह या प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ही योरोप में पिछले तीन-चार सौ वर्षों के दौरान राष्ट्रीयता की भावना का विकास संभव हुआ है। डा० अम्बेडकर का कहना है कि इसी कबीलावादी

सामाजिक व्यवस्था के कारण अभी ढाई-तीन सौ वर्ष पहले तक इंग्लैंड और फ्रांस के राजाओं को वहाँ पर अपने-अपने देश का राजा न कहकर 'अंग्रेजों का राजा' या 'फ्रांसीसियों का राजा' कहा जाता था । मार्क्स और एंजिल्स यूरोप की इस कबीलावादी संस्कृति से इतने अभिभूत थे कि १९वीं शताब्दी में भी वह 'राष्ट्र और राष्ट्रीयता' को न पहचान कर कबीलावाद के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीयता का राग अलापते रहे ।

स्वैराचारी सम्बन्ध

इसी कबीलावादी व्यवस्था ने मार्क्स को परिवार नामक श्रेष्ठतम मानवीय इकाई का निषेध करने को प्रेरित किया । प्राचीन यूरोप की इस कबीलावादी व्यवस्था में रहने वाले स्त्री-पुरुषों में न तो कोई किसी का पति होता था और न ही पत्नी । फिर पुत्र-पुत्री, माता-पिता जैसे ममतामयी संबंधों के होने का तो वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं था । ये लोग कबीले के मुखिया के प्रति अपनी अटूट निष्ठा रखते हुए पशुओं की तरह एक झुण्ड में रहते थे । पशुओं की भाँति ही कबीले के स्त्री-पुरुषों में स्वैराचारी समागम और प्रजनन होता था । बच्चे के जन्म लेने के साथ ही वह बच्चा कबीले का अभिन्न अंग हो जाता था । उस व्यवस्था में पति, पत्नी, सन्तान या माता-पिता, पुत्र, पुत्री आदि की सभ्य व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं था । आदिम और असभ्य युग की इसी व्यवस्था से प्रभावित होकर मार्क्स ने परिवार को एक प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ संस्था घोषित कर दिया और उसकी समाप्ति का समर्थन करते हुए सामूहिक जीवन विताने के लिये 'कम्यूनों' की व्यवस्था कायम करने का पुरजोर समर्थन किया जो किसी भी तरह से व्यावहारिक और मानवोचित नहीं था ।

अधकचरा ज्ञान

यूरोप की इसी घोर भौतिकतावादी सोच से प्रभावित कार्ल मार्क्स अन्यान्य यूरोपीय विद्वानों और विचारकों की तरह ही इस भ्रम-जाल का शिकार बना रहा कि व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व-मानवता और

यह अखिल ब्रह्माण्ड एक-दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हुए नहीं हैं और इसलिये उन्हें एक दूसरे का पूरक नहीं माना जा सकता । वह तो यूरोपीय चिन्तन के आधार पर इन सभी इकाइयों में द्वैत और विरोध ही देखता रहा । पश्चिमी जगत में इनके बीच आन्तरिक एकता की अनुभूति न होने के कारण वहाँ इनमें अधिकार क्षेत्र का जो विवाद अनवरत रूप से चला आ रहा है उसी से प्रभावित होकर और अपने चिन्तन में धर्म का अधिष्ठान न होने के कारण मार्क्स इन सभी इकाइयों में जबर्दस्त अन्तर्विरोध, द्वन्द्व और संघर्ष का ही साक्षात्कार कर सका और उसके निदान हेतु अन्य सभी इकाइयों का पूरी तरह उच्चाटन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीयता का नारा उसे एक मात्र रामबाण औषधि प्रतीत हुई । राष्ट्र और राष्ट्रीयता की शक्ति को वह पहचान नहीं सका । भारतीय मनीषियों द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के पुरुषार्थ चतुष्टय की अत्यन्त श्रेष्ठ आचार संहिता से पूरी तरह अनभिज्ञ रहने वाला मार्क्स इस सचाई को समझ ही नहीं सका कि भारत में सृष्टि के अनादिकाल से ऐसे अनेकों श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं जिन्होंने अर्थ और काम की प्राप्ति धर्म के आधार पर करते हुए मोक्ष की प्राप्ति सहज रूप में की है । इसलिये भारतीय जीवन व्यवस्था और दर्शन में सृष्टि के समस्त प्राणियों, यहाँ तक कि जड़ तत्व के साथ भी अद्वैत भाव पर बल दिया गया है । जड़ और चेतन को भी पूरक माना गया है । किन्तु इन सभी श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों को हृदयंगम कर पाना मार्क्स के लिये संभव नहीं था क्योंकि उसने तो अपने आपको १९वीं शताब्दी तक यूरोप में विकसित अधकचरे ज्ञान तक ही सीमित कर रखा था । ऐसी परिस्थिति में यदि उसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' की संकल्पनाओं का साक्षात्कार न हो सका हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

न्यूटन का प्रभाव

मार्क्स के समय में पश्चिमी जगत के अन्दर एक जबर्दस्त वैचारिक संघर्ष चल रहा था । 'जड़-पदार्थ' मौलिक या आधारभूत इकाई है अथवा आत्मा, मन-मस्तिष्क और विचार तत्व को यह गौरव प्राप्त है, यह गंभीर

विवाद का विषय उस समय बना हुआ था। हीगेल आदि विचारकों और दार्शनिकों ने आत्मा या विचार तत्व की प्रभुता स्वीकार की थी और उनका कहना था कि आत्मा, मन-मस्तिष्क और विचार की शक्ति से ही अन्य तत्वों या पदार्थ जगत् का अस्तित्व बन सका है। दूसरी ओर ऐसे भी विचारक और विद्वान थे जो कि जड़-पदार्थ की प्रभुता मानते थे और कहते थे कि आत्मा, मन-मस्तिष्क और विचार इसी जड़-पदार्थ की उत्पत्ति हैं। इसी दौरान न्यूटन नामक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने अपने गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह भी स्पष्ट किया कि जड़ या द्रव्य पदार्थ ही आधारभूत तत्व है और मन-मस्तिष्क या आत्मा तो उसके ऊपर खड़ी की गई अधिरचना है। दूसरे शब्दों में भौतिक तत्व या भौतिक परिस्थितियों के आधार पर ही सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक आदि क्षेत्रों में विभिन्न रचनाओं का निर्माण होता है।

न्यूटन के इस पदार्थवादी विज्ञान संबंधी सिद्धान्त से मार्क्स इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने इसे अपने संपूर्ण विश्लेषण का आधार बना डाला। यहाँ तक कि अपने राजनीतिक दर्शन का विश्लेषण करते समय अपने से वरिष्ठ जर्मन विचारक हीगेल से द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त उधार लेने के बावजूद उसे उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद में परिवर्तित कर यहाँ तक लिख डाला कि “मैंने हीगेल के द्वन्द्ववाद को सिर के बल खड़ा पाया था, मैंने उसे पैरों के ऊपर खड़ा कर दिया।” कहने का अर्थ यह है कि हीगेल का द्वन्द्ववाद वैचारिक तत्व पर आधारित था जबकि मार्क्स का द्वन्द्ववाद भौतिकतावादी है।

डार्विनवादी सोच

सर आइज़क न्यूटन की तरह तत्कालीन पश्चिमी जगत् में चार्ल्स डार्विन नामक जीव-वैज्ञानिक का डंका बज रहा था। उसने मनुष्य को बन्दर की सन्तान बताते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि सृष्टि में सदैव विकास या उत्क्रान्ति होती है। मार्क्स ने डार्विन के इसी विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर मानवीय जीवन के विकास के विभिन्न चरणों का

का विश्लेषण करके यह निष्कर्ष निकाल डाला कि मानव-जाति भौतिकता-वादी शक्तियों के अधीन निरन्तर विकास पथ पर बढ़ती हुई अपनी अंतिम मंजिल या वर्ग और राज्य विहीन कम्युनिस्ट समाज के निर्माण की ओर जा रही है तथा कम्युनिस्ट समाज की स्थापना एक ध्रुव सत्य है।

वाद, प्रतिवाद और संश्लेषण

मार्क्स ने इन डारविनवादी विकास सिद्धान्त के आधार पर वर्ग तथा राज्यविहीन कम्युनिस्ट समाज की स्थापना का रास्ता बताने के लिए हीगेल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त को अपना लिया। लेकिन जैसा ऊपर बताया जा चुका है हीगेल इस विकास प्रक्रिया का आधार विचार-तत्त्व को मानता था जबकि मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया पर टिके इस विकास-क्रम को भौतिक तत्त्वों पर आधारित बताया। इस द्वन्द्ववादी प्रक्रिया में हीगेल ने तीन अवस्थाएँ बतायीं थीं। उसके मतानुसार प्रारंभिक विचार को 'वाद' कहा जाएगा अब इस विचार या वाद के विरोध में प्रतिक्रियास्वरूप जो दूसरा विचार आएगा वह 'प्रतिवाद' कहलाएगा। इन दोनों विचारों के संघर्ष से उनमें विद्यमान श्रेष्ठ बातों को लेकर एक तीसरा विचार सामने आएगा। इसे पहले के वाद और प्रतिवाद का मिला-जुला रूप या 'संश्लेषण' कहेंगे। मार्क्स ने हीगेल की इस द्वन्द्वात्मक पद्धति का भौतिक तत्त्वों के आधार पर विश्लेषण करते हुए कहा कि किसी भी वृक्ष का बीज उसका वाद या क्रिया है। उस बीज में अन्तर्निहित प्राणशक्ति प्रतिवाद या प्रतिक्रिया है। दोनों के संघर्ष से ऊपर का बीज नष्ट होकर अंकुर पृथ्वी के बाहर फूट आता है जो कि दोनों का संश्लेषण है। इसे एक अन्य उदाहरण से स्पष्ट करके यह कहा जा सकता है कि मुर्गी का अंडा वाद या क्रिया है। अब उसके पेट में जिस प्राण-शक्ति का निर्माण होता है वह उसका प्रतिवाद या प्रतिक्रिया है। अब दोनों का संघर्ष होकर अंडे का ऊपरी भाग या 'टरफल' नष्ट होकर जो चूजा निकलता है वह संश्लेषण है। आगे चलकर यह संश्लेषण स्वयं 'वाद' बन जाता है। फिर उसके पेट में प्राण-शक्ति या 'प्रतिवाद'

का निर्माण होता है और उसके बाद दोनों के संघर्ष से तीसरी वस्तु 'संश्लेषण' निकलती है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है।

शोषण के मूल कारण का अन्त

जैसा ऊपर बताया जा चुका है यूरोपीय चिन्तन पर आधारित मार्क्सवादी दर्शन में मानव जाति अपनी आदिम अवस्था के अंदर परिवार, संगठित समाज, राज्य, वर्ग और व्यक्तिगत संपत्ति के बिना कबीलों के रूप में रहता था। भौतिक तत्त्व संपत्ति ने इस आदिम युग में परिवर्तन उपस्थित किया जोकि शोषण का मूल कारण थी। फलस्वरूप दूसरे चरण में दासत्व युग, तीसरे चरण में सामन्तवाद और चौथे चरण में पूंजीवादी व्यवस्था कायम हो गयी। लेकिन इन सभी अवस्थाओं या चरणों में संपत्ति पर आधारित शोषण मूल कारण बना रहा। अतः विकास पथ पर निरन्तर अग्रसर मानव जाति इन्हीं भौतिक शक्तियों या संपत्ति संबंधी तत्त्व के कारण पाँचवीं अवस्था को जन्म देगा जिसमें सम्पत्तिहीन या साधनहीन सर्वहारा अथवा मजदूर वर्ग साधन-संपन्न या सम्पत्ति पर एकाधिकार रखने वाले पूंजीपतियों से उनकी समस्त संपत्ति छीनकर पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त कर देगा। पूंजीपतियों से छीनी गई इस समस्त अकूत संपत्ति पर समाज का एकाधिकार कायम हो जाएगा और समाज में सभी मेहनतकश या सर्वहारा होंगे। सर्वहारा या मेहनत कशों की इस तानाशाही व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी शोषणवादी भौतिक तत्त्व के नेस्तनाबूद हो जाने से शोषण का अन्त हो जाएगा। फलस्वरूप राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और वह स्वतः गायब हो जाएगा यही आदर्श छठी अवस्था होगी जिसमें कम्युनिस्ट समाज की स्थापना होकर लोग सामूहिक जीवन व्यतीत करेंगे और प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता और सामर्थ्य के आधार पर काम करेगा तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार भौतिक सामग्री का उपभोग करेगा। इस कम्युनिस्ट समाज में समस्त भौतिक संपदा पर पूरे समाज का सांझा या सामूहिक स्वामित्व होगा।

मार्क्स के मतानुसार इस कम्युनिस्ट समाज की स्थापना के बाद भौति-

कतावादी द्रष्टृवाद के विकास की प्रक्रिया समाप्त हो जाएगी क्योंकि वर्ग विहीन और राज्यविहीन अवस्था में रहना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसका स्पष्ट दर्शन मानव-जीवन के प्रारंभिक चरण या आदिम युग में दिखाई दिया था। फिर भी कम्युनिस्ट समाज कायम होने की यह आदर्श अवस्था मानवीय जीवन के प्राथमिक चरण या आदिम युग की अवस्था से इस रूप में गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है कि आदिम युग का मानव असभ्य, जंगली, असंस्कृत और ज्ञान-शून्य था और द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद के आधार पर विकास करते-करते जब कम्युनिस्ट समाज में मानव जाति प्रवेश करेगी तब वह सभ्य, सुसंस्कृत, ज्ञान-सम्पन्न और वस्तुतः सुखी होगी क्योंकि वह अपने विकास की उस चरम अवस्था को प्राप्त कर लेगी जिसमें शोषण का पूरी तरह अन्त कर दिया गया है। संक्षेप में मार्क्सवादी दर्शन की आधारभूत सोच या चिन्तन यही है।

आधारभूत सोच का खोखलापन

उन्नीसवीं शताब्दी में मानवीय ज्ञान की जो स्थिति यूरोप में थी उसमें अनेक प्रबुद्ध लोगों को मार्क्स का यह विश्लेषण सही प्रतीत हुआ। वे लोग उसे वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित संपूर्ण विश्व या अखिल ब्रह्माण्ड पर लागू होने वाला सार्वजनीन नियम बताने लगे। पर ऐसा करते समय वे इस परम सत्य को भूल गए कि ज्ञान की सीमाएँ अनन्त हैं। इसलिए भारतीय मनीषियों ने उसके संबंध 'नेति' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ यह है कि ज्ञान का कोई अन्त या अन्तिम छोर नहीं है। बीसवीं शताब्दी में विज्ञान और वैज्ञानिक क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। नवीन अनुसंधानों ने १९ वीं शताब्दी की वैज्ञानिक खोजों और निष्कर्षों को व्यर्थ कर दिया है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जड़ या द्रव्य पदार्थ को आधारभूत या आदि तत्त्व नहीं माना जा सकता। इस कारण यह है की ऊर्जा की सहायता से द्रव्य जड़ पदार्थ को परिवर्तित किया जा सकता है। इसी तरह स्वयं ऊर्जा द्रव्य पदार्थ में बदल सकती है। आइन्स्टीन ने तो स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर

दिखाया है कि ऊर्जा और द्रव्यपदार्थ एक-दूसरे में बदल सकते हैं और जब वे इस तरह आपस में परिवर्तनशील हों तब वे आधारभूत या आदि तत्व के रूप में कैसे स्वीकार किए जा सकते हैं ? इससे मार्क्सवादी चिन्तन की आधारभूत सोच का खोखला पन प्रकट हो जाता है ।

इसी तरह मार्क्स ने डारविन के विकासवाद के आधार पर यह स्पष्ट किया था कि मानव जाति सतत विकास या उत्क्रान्ति करती है । यद्यपि स्वयं डारविन को अपने जीवन-काल के अंतिम वर्ष में अपने इस विकासवादी या उत्क्रान्ति संबंधी सिद्धान्त पर संदेह हो लगा था, लेकिन आगे चलकर जीव-विज्ञान के क्षेत्र में जब और अधिक प्रगति हुई तब तो यह भी स्पष्ट हो गया कि विकास के साथ-साथ विनाश या घात भी हो सकता है । विकास और विनाश की ये दोनों क्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं और उनका यह क्रम लगातार चलता रहता है । अतः मार्क्स का यह विश्लेषण सही नहीं है कि मानव जाति निरन्तर प्रगति या विकास के पथ पर ही अग्रसर हो रही है । वह विपरीत दिशा में भी जा सकती है और इतिहास में उसके अनगिनत दृष्टान्त या उदाहरण उपलब्ध हैं ।

गंभीर प्रश्न-चिन्ह

भौतिकतावादी द्वन्द्ववाद के आधार पर मार्क्स ने मानवीय विकास का जो विवरण १९वीं शताब्दी में दिया था उसी समय अनेक विद्वानों ने वाद-प्रतिवाद और संश्लेषण पर आधारित इस विचार-पद्धति पर चोट करते हुए कहा था कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मानवीय विकास की सर्वोच्च स्थिति कम्युनिस्ट समाज में कुछ समय बाद-बाद बन जाएगा और फिर उसके विरुद्ध प्रतिवाद जन्म लेगा तथा दोनों के संघर्ष से संश्लेषण की नयी अवस्था आएगी । दूसरे शब्दों में कम्युनिस्ट समाज या कम्युनिज्म भी नष्ट हो जाएगा । पर मार्क्स इसे नहीं मानता । वह तो कम्युनिस्ट समाज की स्थापना को मानवीय विकास की ऐसी अन्तिम स्थिति मान लेता है जिसमें आगे चलकर कोई परिवर्तन नहीं होगा । लेकिन आइन्स्टीन की सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक उपलब्धियों ओर विकास

एवं विनाश की सतत प्रक्रिया से उसका कोई मेल नहीं बैठता । फिर उसे सार्वजनीन नियम कैसे माना जा सकता है ?

इसके साथ विज्ञान ने अब यह भी स्पष्ट कर दिया है कि संसार में कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती । उसका रूपान्तरण मात्र होता है । उदाहरण के लिए पानी को बर्फ या भाप में बदला जा सकता है । लेकिन इससे वह नष्ट नहीं होता । इसी तरह पदार्थों को ऊर्जा और ऊर्जा को पदार्थों में बदलने से उनका रूपान्तरण होता है । वे समूल नष्ट नहीं होते । इसके विपरीत मार्क्स अपने भौतिकतावादी द्वन्द्ववाद के आधार पर बताए गए मानवीय विकास की प्रक्रिया में पहले की स्थिति को नष्ट होने वाला मानता है । इससे भी उसके राजनीतिक दर्शन की वैज्ञानिकता पर गहरा प्रश्न-चिन्ह खड़ा हो जाता है ।

अधकचरा विश्लेषण

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मार्क्स का वैज्ञानिक विश्लेषण न केवल अधकचरा और अपूर्ण है बल्कि वह उसके द्वारा ही बतायी गई वैज्ञानिक पद्धति की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है । इसीलिए उसके दर्शन को संपूर्ण विश्व ब्रह्मांड के अन्दर अनिवार्य रूप से लागू होने वाला या कम्युनिस्ट समाज की स्थापना को अनिवार्य बताने वाला मान लेना गंभीर भूल होगी । सार्वजनीन और शाश्वत नियम होने का गौरव तो वह अब खो ही चुका है । सोवियत संघ सहित सभी पूर्वी योरोपीय कम्युनिस्ट शासन-व्यवस्था वाले देशों में कम्युनिस्ट समाज की स्थापना होने से पहले ही फिर से बाजार पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के ढाँचे को अपनाकर पूंजीवादी मार्ग पर आगे बढ़ने की उनकी प्रवृत्ति और निश्चय ने तो मार्क्सवादी दर्शन को ही अलविदा कह दी है । इससे उसका खोखलापन आज जग जाहिर हो चुका है ।

अध्याय तीन

माक्सवादी दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

पिछले अध्याय में वर्णित अपनी आधारभूत भौतिकतावादी सोच के आधार पर माक्स ने कम्युनिज्म के प्रमुख सिद्धांतों का विश्लेषण किया है। इनमें उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद के अतिरिक्त इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या या आर्थिक नियतिवाद, वर्ग संघर्ष, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और कम्युनिस्ट समाज की स्थापना सम्बन्धी सिद्धांत प्रमुख हैं। विषय की स्पष्टता के लिए उनका संक्षिप्त विश्लेषण निम्न है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद

वस्तुतः द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद और इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या या आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त आपस में इतने गहरे रूप में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं कि एक को दूसरे से विलग करके प्रायः समझा नहीं जा सकता। फिर भी जैसा ऊपर बताया जा चुका है इन दोनों सिद्धान्तों में पदार्थ तत्त्व की आधारभूत रूप में प्रधानता स्वीकार की गयी है। इसी आधार पर माक्स की मान्यता यह है कि भौतिक पदार्थों या तत्त्वों में उनके अन्दर छिपे हुए तत्त्वों के संघर्ष के फलस्वरूप ही परिवर्तन होता है जिसे उसने भौतिकतावादी द्वन्द्ववाद के बाद, प्रतिवाद और संश्लेषण द्वारा स्पष्ट किया है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक आदि सभी

तरह के मानवीय विकास के पहलुओं को वह इसी भौतिकतावादी द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया के अधीन मानता है और इसी आधार पर आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वह इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। उसके शब्दों में “संपूर्ण मानव जाति इन्हीं अटल या शाश्वत नियमों के अधीन एक अपरिहार्य या अवश्यम्भावी लक्ष्य की ओर अनिवार्य आवश्यकता के रूप में बढ़ती चली जा रही है।” दूसरे शब्दों में मानवीय विकास की दिशा या उसका विषय अथवा भवितव्य भौतिकतावादी शक्तियों ने पहले से ही सुनिश्चित कर रखा है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर मार्क्स ने वैज्ञानिक कहे जाने वाले विश्लेषण में आत्मा, विचार या बुद्धि के तत्त्व या बुद्धिजीवियों की किसी भी तरह की सक्रिय भूमिका को मानवीय विकास की प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं दिया है। वह तो सीधे सर्वहारा या मजदूरों से अपील करते हुए कहता है कि “मजदूरों को अपने बन्धनों के सिवा कुछ भी खोना नहीं है। उनके सम्मुख विजय के लिये संपूर्ण संसार है। संसार के मेहनतकशों एक हो जाओ।”

विरोधाभास

किन्तु भौतिक पदार्थों या तत्त्वों की इस निर्णायक प्रधानता के बावजूद मार्क्स यह भी मानता है कि मानव अपने भवितव्य या भाग्य का स्वयं निर्माता भी हो सकता है। मार्क्स के निधन के बाद उसके अभिन्न मित्र एंजिल्स ने स्वयं इस सच्चाई को स्वीकार किया था और सन् १८६४ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उसने लिखा था कि “हमारे अनुयायियों द्वारा आर्थिक तत्त्व पर आवश्यकता से अधिक बल दिये जाने के लिए कुछ हद तक मार्क्स और मैं जिम्मेदार हैं। मानवीय विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्त्व के योगदान को स्वीकार न करने वाले अपने विरोधियों के दुराग्रह के कारण हमें इसके महत्त्व पर आवश्यकता से अधिक बल देने के लिए विवश होना पड़ा। इसके साथ ही हम दोनों को इतना समय, उपयुक्त स्थान और अवसर भी उपलब्ध न हो सका कि इस ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों का विश्लेषण करके हम उनके साथ न्याय

कर पाते।" फिर भी अपनी तथा मार्क्स की बौद्धिक अस्पष्टता का परिचय देते हुए एंजिल्स आगे लिखता है कि "इतिहास को सुनिश्चित करने में अन्ततोगत्वा आर्थिक स्थिति ही निर्णायक हुआ करती है।" इन परस्पर-विरोधी वक्तव्यों को दृष्टि में रखकर अनेक आलोचकों ने, जिनमें सी. एल. वेपर प्रमुख हैं, लिखा है कि मानव को अपने भविष्य या भवितव्य का निर्माता बताकर मार्क्स ने अप्रत्यक्ष रूप से ही क्यों न हों, मस्तिष्क या विचार-शक्ति के महत्व को स्वीकार कर लिया था। ऐसी हालत में आर्थिक स्थिति को ही निर्णायक बताना फिर कैसे उचित ठहराया जा सकता है? अतः सी. एल. वेपर का यह कहना संभवतः अधिक सही है कि "यदि मार्क्स ने ईमानदारी से मस्तिष्क और भौतिक शक्तियों के बीच सम्बन्ध खोजने की कोशिश की होती तो वह अपने सिद्धान्त (भौतिकतावादी दर्शन) को स्वयं ही अमान्य कर देता।"

२. इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या

द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद के आधार पर ऐतिहासिक विकास क्रम का विवरण देते हुये मार्क्स का कहना है कि समस्त ऐतिहासिक घटनाओं पर आर्थिक स्थिति का ही प्रभाव पड़ता है। संपूर्ण सामाजिक ढांचा आर्थिक ढांचे के अनुसार ही बदलता रहता है। मार्क्स के शब्दों में "इतिहास के लम्बे दौर में अस्तित्व में आने वाली सभी सामाजिक, राजनीति और बौद्धिक सम्बन्ध, सभी धार्मिक और कानूनी व्यवस्थाएँ तथा सभी सैद्धांतिक दृष्टि-कोण जीवन की भौतिक परिस्थितियों के निष्कर्ष हैं।" इसका अर्थ यह है कि किसी भी युग का इतिहास ले लिया जाये उस युग की सभ्यता केवल उस वर्ग का ही इतिहास दिखाई देगी जिसके पास आर्थिक शक्ति थी और उत्पादन के साधनों पर जिसका नियंत्रण था। दूसरे शब्दों में उत्पादन के साधनों या आर्थिक शक्ति पर नियंत्रण रखने वाला वर्ग ही राज्य सत्ता पर काबिज होकर शेष समाज का शोषण करता है। ज्यों-ज्यों इन भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आता है त्यों-त्यों राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं में भी परिवर्तन उपस्थित होने लगता

है। अतः यह भौतिक परिस्थितियाँ ही समाज के मूलभूत तत्त्व हैं जिन पर समाज का संपूर्ण ढाँचा आधारित रहता है। माक्स के अनुसार चेतना अपने आप में कुछ भी नहीं होती। उसका अस्तित्व तो सामाजिक स्थिति द्वारा सुनिश्चित होता है और सामाजिक स्थिति भौतिक सम्बन्धों के द्वारा निर्धारित होती है।

अपने इसी विश्लेषण के आधार पर माक्स यह भी बताता है कि उत्पादन के साधनों में परिवर्तन आने से सामाजिक राजनीतिक संबंधों में भी अन्तर आ जाता है? उससे पुराने राजनीतिक सामाजिक संबंधों के टूटने का खतरा पैदा हो जाता है। अतः राजनीतिक सत्ता या राज्य व्यवस्था पर अधिकार जमाने वाला वर्ग उसका प्रतिरोध करता है। इससे क्रान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और यह क्रान्ति प्राचीन व्यवस्था को समाप्त कर भौतिक परिस्थितियों पर आधारित उत्पादन के साधनों के अनुरूप नवीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को जन्म देती हैं। इसी आधार पर आदिम कम्युनिस्ट अवस्था से दासत्व युग, सामन्तवादी युग और पूँजीवादी युग का उदय हो चुका है तथा उसी के आधार पर भविष्य में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम होकर अन्त में आदर्श कम्युनिस्ट समाज की स्थापना हो जाएगी जिसमें वर्गों की भिन्नता समाप्त हो जायेगी एवं राज्यविहीन और शोषणमुक्त समाज कायम हो जायेगा।

धर्म को अफीम की संज्ञा

इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए माक्स यह भी स्पष्ट करता है कि दासत्व, सामन्तवादी और पूँजीवादी व्यवस्थाओं में भौतिक परिस्थितियाँ और उत्पादन के साधन एक वर्ग—विशेष के हितों को ही पूरा करते हैं और शेष समाज का उनके द्वारा शोषण होता है। अतः उस साधनहीन और शोषित समाज को भुलावे में डालकर उनका और अधिक शोषण करने के उद्देश्य से शोषक तत्त्व धर्म का सहारा लेकर उन्हें भ्रमित करते हैं और उन्हें मृत्यु के बाद परलोक में सुखी जीवन बिताने का

सब्ज बाग दिखाकर उनका शोषण जारी रखते हैं। इसी आधार पर मार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा प्रदान की है।

वृष्टिपूर्ण सिद्धांत

द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद की तरह ही इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या का यह आर्थिक नियतिवाद सम्बन्धी सिद्धान्त भी अत्यन्त वृष्टिपूर्ण है। सुविख्यात अंग्रेज दार्शनिक बर्ट्रैंड रसेल ने इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या में व्याप्त आर्थिक तत्त्व की प्रधानता को गलत बताया है। उसका कहना है कि मार्क्स ने ऐसा करते समय इतिहास के निर्माण में योग देने वाली मानवीय भावनाओं, धर्म, परम्परा, व्यक्तित्व के प्रभाव, राष्ट्रवाद की श्रेष्ठ भावना आदि तत्त्वों की पूर्ण उपेक्षा की है। नेपोलियन ने फ्रांस में राज्य सत्ता सैनिक शक्ति, अपने शौर्य एवं प्रतिभा के आधार पर प्राप्त की थी, आर्थिक शक्ति के द्वारा नहीं। इसी तरह उत्पादन की शक्तियाँ ही उत्पादन-सम्बन्धों को सुनिश्चित नहीं बनाती। आलोचकों के इस कथन में बहुत अधिक सचाई है कि अमेरिका और सोवियत संघ में उत्पादन की शक्तियाँ प्रायः एक समान होने पर भी उनकी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था एक जैसी नहीं रही है। इसी तरह आर्थिक प्रभुत्व से सामाजिक सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्त हो, यह जरूरी नहीं है। आजादी की लड़ाई में बढ़चढ़कर भाग लेने वाले लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बसु, सरदार पटेल, नेहरू आदि को मिली सामाजिक प्रतिष्ठा आर्थिक सम्पन्नता पर आधारित नहीं थी। आचार्य विनोबा भावे, श्री गुरुजी, जयप्रकाश-नारायण की बराबरी क्या कोई टाटा, बिड़ला, अम्बानी, थापर या किलो-स्कर कर सकता है? राज्य सत्ता पर अधिकार भी केवल शोषण के लिए नहीं किया जाता और न ही राज्य को केवल शक्ति पर आधारित शोषणवादी संस्था माना जा सकता है। क्या अब्राहम लिंकन ने राज्य-सत्ता की प्राप्ति शोषण करने के लिए की थी? क्या छत्रपति शिवाजी को राज्य-सत्ता पर अधिकार करने से शोषक शासक की संज्ञा दी जा सकती है?

इसीलिये सुप्रसिद्ध लेखक वेपर ने मार्क्स के इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या के सिद्धांतों की आलोचना करते हुए लिखा है कि मार्क्स की रचनाओं में कहीं भी यह स्वीकृति अथवा अनुभूति नहीं है कि मनुष्य अपनी गरिमा और आत्म सम्मान की संतुष्टि के लिए भी शक्ति या राज्य की कामना करते हैं।" मार्क्स द्वारा मानव समाज को साधन-सम्पन्न और साधनहीन के दो परस्पर-विरोधी वर्गों में बांटना भी तर्कसंगत नहीं है क्योंकि उसमें मध्यम वर्ग की पूरी तरह उपेक्षा की गई है। वैसे भी समाज का इस तरह दो वर्गों में वर्गीकरण तथ्यपूर्ण नहीं है। एक व्यक्ति किसी कार्यालय या कारखाने में कार्यरत होकर कर्मचारी या मेहनतकश होने के बावजूद अपने घर में किसी व्यक्ति को नौकर रखने के कारण मालिक हो सकता है। पर मार्क्स ने इन संभावनाओं की पूरी तरह उपेक्षा की है। उसके द्वारा छः चरणों में किया गया इतिहास विभाजन भी तर्कसंगत नहीं है और आलोचकों द्वारा उसकी बड़ी तीखी आलोचना की गयी है। धर्म को अफीम की संज्ञा प्रदान कर मार्क्स धर्म के कल्याणकारी स्वरूप को नहीं पहचान सका है। यह तो विज्ञान का सर्वमान्य नियम है कि प्रकृति अनावश्यक वस्तुओं या इकाइयों को काल-क्रम से स्वयं समाप्त या निःशेष कर देती है। लेकिन धर्म के संबंध में तो ऐसा आज तक हुआ नहीं है। उल्टे १९६० के दशक में इटली के सर्वमान्य कम्युनिस्ट नेता लोगलियाती ने रोमन कैथोलिक चर्च के सर्वोच्च धर्माधिकारी पोप से समझौता किया था। वह पोप की प्रशंसा करने में निष्ठावान ईसाइयों से भी आगे था। सोवियत संघ में ७३ वर्ष के लम्बे अनीश्वरवादी कम्युनिस्ट शासन के दौरान भी वहां के नागरिकों की धर्म या चर्च के प्रति निष्ठा खत्म नहीं की जा सकी है। अब तो वहाँ न केवल चर्च में जाने आदि की छूट सोवियत नागरिकों को दे दी गई है बल्कि ब्रिटेन के कम्युनिस्ट नेताओं ने तो एंग्लिकन चर्च के पादरियों के साथ दस-दस दिन के लम्बे सम्मेलन करके धर्म और कम्युनिज्म में समान तत्त्वों की खोज करने का काम भी शुरू कर दिया है। सोवियत संघ के राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचेव ने पोप से एकान्त में लम्बी महत्वपूर्ण वार्ता की है।

संयोग का महत्व

केवल आर्थिक शक्ति या भौतिक तत्त्वों को आधारभूत तत्त्व मानने वाला मार्क्स इतिहास के लम्बे दौर में ऐतिहासिक संयोग से होने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं का आकलन करने में विफल रहा है। उदाहरण के लिए जिस न्यूटन के पदार्थ को आधारभूत तत्त्व मानने से प्रेरणा लेकर अपने भौतिकतावादी राजनीति दर्शन का विशद विश्लेषण मार्क्स ने किया है वह इस सत्य को नहीं देख सका कि न्यूटन ने संयोगवश सेव के फल को वृक्ष से नीचे पृथ्वी पर गिरते देखा और उसके आधार पर उसने गुरुत्वाकर्षण का महत्वपूर्ण सिद्धान्त मानव-जाति को विकसित करके दे दिया। इसी तरह यदि १६ अप्रैल १९१७ के दिन लेनिन को रूस वापस आने की अनुमति न मिली होती तो क्या रूस में अक्टूबर १९१७ की क्रान्ति हो पाती इसी तरह यदि क्रान्ति से पूर्व १७ जुलाई की रात्रि में 'प्रावदा' समाचार पत्र के कार्यालय पर सैनिकों द्वारा मारे गये छापे के आधा घंटे पहले लेनिन वहाँ से निकल कर सुरक्षित स्थान पर छिपने में सफल न हो पाता तो उस छापे के दौरान लेनिन का जीवित बच पाना भी असंभव हो जाता और तब १९१७ की सर्वहारा क्रांति रूस में नहीं हो पाती। इन्हीं सब तथ्यों के फल-स्वरूप सुप्रसिद्ध विचारक हेराल्ड जे० लास्की तक ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित आर्थिक कारणों को एक मात्र तत्त्व मानने से इन्कार किया है। उनका कहना है कि सत्ता, प्रेम, सामुदायिक भाव, ईर्ष्या, प्रदर्शन की इच्छा आदि तत्त्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इसी तरह प्रोफेसर जार्ज सेवाइन का कहना है कि मानवीय विकास की प्रक्रिया में आर्थिक नियतिवाद एक सहायक तत्त्व तो अवश्य है लेकिन वह एकमात्र तत्त्व नहीं है। सच तो यह है कि सामाजिक सम्बंध इतने गहन और जटिल हैं कि उनकी इतनी सरल व्याख्या नहीं की जा सकती।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

मार्क्स ने पूंजीवाद के विकास और सामाजिक परिणामों की जो व्याख्या की है उसकी मुख्य बात उसका 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत' है

जिसे उसने 'मूल्य के श्रम सिद्धांत' के आधार पर सुनिश्चित किया है। इस सिद्धांत के अनुसार निर्णायक दृष्टि से किसी भी वस्तु का विनिमय मूल्य अर्थशास्त्र के प्रचलित माँग और पूर्ति या उपयोगिता के सिद्धांत पर निर्धारित न होकर उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा द्वारा निश्चित किया जाता है। मूलतः इस सिद्धांत का प्रतिपादन सत्रहवीं शताब्दी में ब्रिटेन के सर विलियम पेटी ने किया था। उसके बाद एडम स्मिथ और डेविड रेकार्डों जैसे सुविख्यात अर्थशास्त्रियों ने भी उसे संशोधित करते हुये अपनाया था।

धनिक वर्ग का नियंत्रण

मार्क्स ने मूल्य के इस श्रम सिद्धांत के आधार पर यह स्पष्ट किया कि पूँजीवादी व्यवस्था में कच्चेमाल और पूँजी पर धनिक वर्ग या पूँजीपति का नियंत्रण रहता है। मेहनतकश मजदूर के पास एक मात्र पूँजी उसका श्रम है। चूँकि यह श्रम नाशवान है इसलिये वह उसे पूँजीपति के हाथों बेचने पर विवश है। परन्तु पूँजीपति मजदूर से उसका श्रम खरीदते समय उसे वस इतनी मजदूरी देता है जिससे वह किसी तरह जीवित रह सके और अपना श्रम बेचने के अलावा उसके सामने कोई रास्ता न रहे। दूसरी ओर पूँजीपति मेहनतकशों के श्रम से तैयार वस्तुओं को अधिक कीमत पर बेचता है। इस तरह वस्तु की लागत कीमत और विक्री मूल्य में जो अन्तर है वही अतिरिक्त मूल्य है जिसे पूँजीपति डकार जाता है।

विनाश के बीज

मेहनतकशों को इस दुःस्थिति से छुटकारा दिलाने के लिए मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था में लागू निजी किराए, व्याज और लाभ आदि को नष्ट करने का समर्थन करता है और कहता है कि यह तभी संभव है जब पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म करके समाजवादी व्यवस्था लागू कर दी जाये। अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद पर टिकी इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या के आधार पर वह यह भी बताता है कि पूँजीवादी व्यवस्था स्वयं उसी रास्ते पर आगे बढ़ रही है। उसके विनाश के बीज उसके अंदर ही हैं। इसका

कारण यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में खुली प्रतियोगिता की वजह से समस्त पूँजी पूँजीपतियों के हाथों में अतिरिक्त मूल्य की कमाई के कारण केन्द्रित होती चली जाती है यहाँ तक कि इस खुली प्रतिद्वन्द्विता में छोटे पूँजीपति भी टिक नहीं पाते और वे भी मेहनतकश वर्ग में शामिल होने को विवश कर दिए जाएँगे। इस तरह मेहनतकशों की संख्या बराबर बढ़ती चली जाएगी। इससे लोगों की क्रय-शक्ति घटेगी, तैयार माल की खपत नहीं होगी और आर्थिक मंदी का संकट पैदा हो जाएगा। उधर मेहनतकशों में असंतोष बढ़ने से वर्ग भावना तीव्र होगी, वे एकजुट होंगे और वर्ग संघर्ष अनिवार्य हो जाएगा जिसमें अन्तिम विजय मेहनतकशों की होगी।

कसौटी पर खरा नहीं उतरा

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त भी तथ्य और समय की कसौटी पर खरा नहीं उतर सका है। यदि मेहनतकश के श्रम के आधार पर ही वस्तु की कीमत तय होगी तब तो मशीन से निर्मित वस्तुओं की तुलना में हाथ से बनी वस्तु अधिक कीमती होगी। परन्तु ऐसा नहीं है माँग, पूर्ति और उपयोगिता आज भी वस्तु की कीमत तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। फिर पूँजीपति कारखानों में पूँजी लगाकर और मेहनतकशों को भरती कर चैन की नींद नहीं सो जाता। उसे संपूर्ण उद्योग का सुचारु रूप से संचालन करने में अपनी बुद्धि, प्रतिभा, कौशल, योग्यता सभी लगानी पड़ती है और तैयार माल को बेचने के लिए गंभीर प्रयास करने पड़ते हैं। अनेक बार कारखानेदार को लागत मूल्य से कम पर भी अपनी वस्तुएँ बेचने पर विवश होना पड़ता है जबकि मजदूर तो अपनी निर्धारित मजदूरी प्राप्त कर लेता है। वह घाटे में भागीदार नहीं बनता।

इसी तरह मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी गलत निकल गई है कि आर्थिक क्षेत्र में भयंकर प्रतियोगिता के फलस्वरूप समाज में केवल शोषक और शोषित या पूँजीपति और मेहनतकश लोगों के ही दो वर्ग रह जाएँगे। आज भी संसार के अधिकांश देशों में मध्यम वर्ग की संख्या

बहुत बड़ी है। औद्योगीकरण से उत्पन्न पूँजीवादी व्यवस्था में मेहनतकश लोगों का जीवन-स्तर सुधरा है, उनके वेतन में उल्लेखनीय रूप में बढ़ो-त्तरी हुई है, उनके सामाजिक कल्याण के लिए अनेक योजनाएँ लागू की गई हैं, स्वास्थ्य सुधार सेवाओं में बढ़ोत्तरी की गई है, शिक्षा और तकनीकी प्रशिक्षण का प्रबंध हुआ है और उन्हें सम्मान के साथ जीवन बिताने का सुअवसर प्राप्त है। राज्य-प्रशासन में उनकी भागीदारी ही नहीं बढ़ी है बल्कि मार्क्स के द्वारा राज्य को शोषणवादी संस्था बताने को झुठलाते हुए उसने लोककल्याणकारी स्वरूप ले लिया है। अतः मजदूरों के लिये काम के घंटे, न्यूनतम मजदूरी, मानवोचित वातावरण में काम करने की सुविधा, सामूहिक अनिवार्य बीमा योजना आदि के अनेक कानून बनाए गए हैं। औद्योगिक प्रतिष्ठान और सरकारें भी मजदूरों को लाभांश या बोनस देती हैं। ट्रेड-यूनियन के संगठित आंदोलन ने मेहनतकशों का जीवन अत्यधिक उन्नत बना दिया है। यहाँ तक कि मेहनतकश जनता को इस सुधरी हुई हालत को देखकर एंजिल्स को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि “ब्रिटिश मेहनतकश वर्ग वस्तुतः अधिकाधिक बुर्जुआ बनता जा रहा है।” सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि मार्क्स के समकालीन एक अन्य समाजवादी विचारक फर्डिनाण्ड लासाले ने संगठित ट्रेड-यूनियन आंदोलन के द्वारा मजदूर और मेहनतकश जनता की दशा सुधारने में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान किया था, फिर भी मार्क्स उसकी ओर से आँख मूंदे रहा इसीलिए मैक्स बीयर, जार्जसेब्राइन, कैरू हंट और बेपर आदि अनेक विद्वानों का यह कहना है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की दृष्टि से अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त अत्यन्त लचर है। उसमें अर्थशास्त्रीय सचाई न होकर केवल सामाजिक-राजनीतिक नारेबाजी और मेहनतकश जनता से एक शक्तिशाली भावनात्मक अपील मात्र की गई है।

४. वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त

मार्क्स का कहना है कि मानव जाति का आज तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। आदिम कम्युनिस्ट युग की समाप्ति के समय से ही

मानव-समाज दो परस्पर-विरोधी वर्गों में बँटा हुआ है। आर्थिक शक्ति संपन्न वर्ग ने राजनीतिक शक्ति पर भी अधिकार कर रखा है। इसका कारण यह है कि राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति से ही प्राप्त होती है। इस तरह आदिम कम्युनिस्ट युग के बाद से ही मानव-समाज दास और किसान, किसान और सामन्त या बड़े जमींदार, मजदूर और पूँजीपति के दो परस्पर विरोधी शोषक और शोषित या अमीर और गरीब वर्गों में बँटे हुए रहे हैं। किसान, सामन्त और पूँजीपति ने दास, किसान और मेहनत-कश वर्ग का क्रमशः लगातार शोषण किया है। इस कार्य में राज्य की शक्ति ने हमेशा शोषक वर्ग का ही साथ दिया है। ऐसी हालत में शोषित वर्ग के पास अपनी दशा सुधारने के लिये क्रान्ति के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था में मेहनतकश जनता का बुरी तरह शोषण होने से मानव जाति उसे नष्ट करते हुए सर्वहारा या मेहनतकश जनता की तानाशाही पर आधारित ऐसे कम्युनिस्ट समाज की स्थापना की ओर आगे बढ़ रही है जो मार्क्स के मतानुसार मानव के उच्चतम विकास की अवस्था होगी। मार्क्स अपने भौतिकवादी दर्शन के आधार पर पूँजीवाद के अवश्यम्भावी विनाश की चर्चा करते हुए लिखता है कि इस व्यवस्था में मशीनों की सहायता से उत्पादन करने से उत्पादन बड़ी मात्रा में होता है और उस पर पूँजीपतियों का एकाधिकार रहता है। इस केन्द्रीकृत उत्पादन प्रणाली से मेहनतकश मजदूर भी एक स्थान पर केन्द्रित हो जाते हैं और उनमें संगठित होने की इच्छा बढ़ जाती है। अपने बढ़े हुए उत्पादन को खपाने के लिये पूँजीपति संपूर्ण संसार में बाजार खोजते हैं जिससे वह अधिक से अधिक मुनाफा कमा सकें। लेकिन इससे दुनिया भर की मेहनतकश जनता में आपसी संबंध भी बढ़ जाता है और वे संगठित होकर अपनी शक्ति बढ़ाने लगते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में उसकी अपनी कमजोरियों की वजह से आर्थिक संकट आते रहते हैं। पूँजीवाद के विस्तार से इन संकटों में और बढ़ोत्तरी होती है। फलस्वरूप मेहनतकश वर्ग का दुख-दर्द सीमातीत अवस्था में पहुँच जाता है। उधर छोटे-छोटे पूँजीपति इस आर्थिक संकट का

मुकाबला नहीं कर पाते और वे नष्ट होकर सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ाते हैं। मेहनतकश शोषित वर्ग और अधिक संगठित होने लगता है। वह अपने संगठन को विश्वव्यापी बना लेता है। इससे उनमें वर्ग भावना और भी अधिक बढ़ जाती है। अपनी भयंकर दुःस्थिति देखकर यह संगठित सर्वहारा या मेहनतकश वर्ग अन्त में हिंसक क्रान्ति कर बैठता है और वह पूंजीपतियों से उनकी सकल संपत्ति छीनकर उनका विनाश कर देता है। क्रान्ति की इस अनिवार्यता को अपने भौतिकवादी चश्मे से देखकर ही मार्क्स ने अपने कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में संवैधानिक सुधारों में कोई रुचि न दिखाकर क्रान्ति का समर्थन किया है। उसकी यह सुनिश्चित मान्यता थी कि मानव-जाति पूंजीवादी व्यवस्था का विनाश करके कम्युनिस्ट समाज की स्थापना करने की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ रही है। वह और उसके अनुयायी अपने संगठित और सुनियोजित प्रयासों से इसकी गति और अधिक तेज कर सकते हैं जिससे संसार के मेहनतकश शोषित समाज के असह्य दुःख दर्द का काल-खण्ड कम किया जा सके। इसीलिये उसने अपने समकालीन एक अन्य प्रमुख समाजवादी विचारक लासाले को लिखा था कि “हम जो कुछ कर सकते हैं वह यही है कि जहाँ भी संभव हो हम इस असंतोषरूपी जहर को घोलते चले जाएं” जिससे सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का दिन जल्दी प्राप्त कर लिया जाए और पूंजीवादी व्यवस्था नष्ट हो सके।

वर्ग संघर्ष का इतिहास नहीं

मार्क्स के अन्यान्य सिद्धान्तों की तरह ही विद्वानों और विचारकों ने वर्ग संघर्ष सिद्धान्त की तीखी आलोचना की है। उनका कहना है कि मानव जाति का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास नहीं है। यदि ऐसा होता तो मानव-समाज आज से पहले कभी का समाप्त हो चुका होता। इसके विपरीत मानवीय इतिहास में आपसी सहयोग, सद्भावना और सामञ्जस्य एवं समन्वय के अतनित दृष्टान्त भरे पड़े हैं। महात्मा बुद्ध, ईसामसीह, महावीर स्वामी, गांधी आदि अनेक धर्माचार्यों और समाज सुधारकों ने समाज के सभी वर्गों के बीच समन्वय कायम करके मानव-जीवन को उन्नत

करने का पाठ पढ़ाया है। मार्क्स का यह कहना भी सही नहीं है कि समाज में हमेशा दो परस्पर विरोधी वर्ग होते हैं। सच्चाई तो यह है कि इतिहास के लम्बे दौर में प्रत्येक देश में एक साथ अनेक वर्गों का न केवल अस्तित्व रहा है बल्कि वे शांति के साथ भी रहते आये हैं। मार्क्स की भूल यह है कि वह किसी भी समाज में वकील, डाक्टर, प्रोफेसर, इंजीनियर आदि वर्गों की अनदेखी करता गया। इसी तरह पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का गम्भीरतम विश्लेषण करते समय भी वह तकनीकी विशेषज्ञों, बैंकों के प्रबन्धकों और कारखानों के कुशल मैनेजरोँ या निदेशकों के वर्ग की ओर कोई ध्यान नहीं दे सका। ये सभी मेहनतकश सर्वहारा वर्ग में नहीं रखे जा सकते पर साथ ही उन्हें पूँजीपति भी नहीं माना जा सकता। फिर एक व्यक्ति एक स्थान पर कर्मचारी और दूसरे स्थान पर स्वामी हो सकता है। मार्क्स की व्याख्या और विश्लेषण में उनके लिये कोई स्थान नहीं है। हम रोजमर्रा के अनुभव में यह देखते हैं कि एक अत्यन्त सम्पन्न व्यक्ति या परिवार कुछ ही वर्षों में कंगाल हो जाता है और बहुत अधिक गरीब और साधनहीन व्यक्ति भी अपनी प्रतिभा, बुद्धि, कौशल और योग्यता आदि गुणों के आधार पर धनी बन जाता है। लेकिन इन तथ्यों को मार्क्स देख नहीं सका।

कम्युनिस्ट व्यवस्था ने दम तोड़ा

मार्क्स और उसके राजनीतिक दर्शन की विडम्बना यह रही है कि उसने मानवीय विकास की बहुमुखी प्रगति की अत्यन्त जटिल प्रक्रिया को कुछ डिब्बेबन्द सिद्धान्तों में रखकर उसे जड़-पदार्थों के विज्ञान की तरह एक सुनिश्चित विज्ञान बनाने का प्रयास किया है जिसमें उसे पूर्ण विफलता हाथ लगी है। यही कारण है कि विकसित पूँजीवादी व्यवस्था में छोटे-छोटे व्यापारी या पूँजीपति बने हुए हैं, मेहनतकश मजदूरों की दशा सुधरी है, उनकी मजदूरी बढ़ी है, जीवन स्तर ऊँचा हुआ है, मध्यम-वर्ग निरन्तर फल फूल रहा है और नये-नये उद्यम विकसित हो रहे हैं। फलस्वरूप मार्क्स की यह भविष्यवाणी गलत निकल गई है कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ

गरीब और अधिक गरीब हो जाएगा। उल्टे सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप सहित अनेक देशों में उसके सिद्धान्तों के आधार पर की गई सर्वहारा वर्ग की क्रान्तियाँ अपना दम तोड़ चुकी हैं। औद्योगिककरण के निरन्तर विकास और मजदूरों की दिनों-दिन बढ़ती संख्या के बावजूद परस्पर विरोधी वर्ग-चेतना विकसित नहीं हो सकी है। मेहनतकश मजदूर अपने देश, अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्र के साथ अत्यन्त गम्भीर भावात्मक और रागात्मक लगाव रखता है। दोनों महायुद्धों के दौरान मेहनतकश मजदूरों का यह संगठित वर्ग माक्स के वर्ग संघर्ष के नारे की चकाचौंध से आकर्षित होकर पूँजीवाद को समाप्त करने के लिये आगे नहीं बढ़ा है। फिर पूँजीवाद के विनाश के बाद सुनिश्चित तौर पर सर्वहारा की तानाशाही कायम होकर कम्युनिस्ट समाज की स्थापना हो ही जाएगी, यह असंदिग्ध रूप में कैसे कहा जा सकता है? साठ के दशक के अन्त में हिन्देशिया में डा० सुकर्ण के शासन-काल में मंहगाई छः सौ प्रतिशत से अधिक बढ़ जाने और सशक्त कम्युनिस्ट पार्टी की मौजूदगी के बावजूद वहाँ सर्वहारा की क्रान्ति नहीं हो सकी और सैनिक तत्वों ने अन्ततः शासन पर अधिकार करके क्रान्ति कर दी। ये सभी घटनाएँ माक्स के सिद्धान्त का खोखलापन पूरी तरह उजागर कर देती हैं।

५-मेहनतकश या सर्वहारा वर्ग की तानाशाही

माक्स के द्वारा प्रतिपादित यह सर्वहारा क्रान्ति मानवीय इतिहास की सबसे अधिक निर्णायक क्रान्ति बतायी गई है क्योंकि यह क्रान्ति सम्पूर्ण व्यवस्था को बदल देगी जैसा कि इसके पहले की क्रान्तियों में नहीं हुआ है। सर्वहारा की यह क्रान्ति पहले हुई क्रान्तियों की तरह साधन-सम्पन्न लोगों का हित न करके समाज के दलित, पीड़ित, शोषित समाज की दशा सुधारने के उद्देश्य से उत्पादन के साधनों और वितरण की प्रणाली पर पूरे समाज का नियंत्रण कायम कर देगी। राज्य पर मेहनतकश जनता का अधिकार होगा, पूँजीपतियों का नहीं। फिर भी शोषणवादी राज्य संक्रमण-काल के अन्दर कुछ समय तक बना रहेगा। इसमें राज्य व्यवस्था पर मेह-

नतकश सर्वहारा की तानाशाही कायम होगी जिससे वह पूंजीवादी व्यवस्था का समूल रूप से उच्चाटन कर सके। इसकी वजह यह है कि मेहनतकश जनता की इस क्रान्ति के होने के बाद भी पूंजीपति वर्ग आसानी से हार नहीं मानेगा और वह किसी न किसी रूप से नवोदित व्यवस्था को खत्म करने की कोशिश करेगा। ऐसी हालत में एंजिल्स के मतानुसार राज्य की जिस संगठित शक्ति का प्रयोग पूंजीवादी तत्व मेहनतकश गरीब जनता का शोषण करने के लिये करते थे अब उसी संगठित शक्ति के द्वारा मजदूर वर्ग पूंजीपतियों का विनाश करेगा। उनके विशेषाधिकार, चल और अचल सम्पत्ति आदि सब कुछ छीन लिया जाएगा तथा उन्हें भी सर्वहारा बनने के लिये मजदूर कर दिया जाएगा। इसलिये इस संक्रमण-काल में मार्क्स और एंजिल्स के अनुसार राज्य उस समय तक अपनी तानाशाही शक्तियों के साथ बना रहेगा जब तक कि समाजवादी व्यवस्था के अनुकूल हालात पूरी तरह निर्माण नहीं हो जाते।

क्रान्ति की अव्यावहारिकता

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मजदूरों की तानाशाही का सिद्धान्त व्यावहारिक रूप में कभी भी लागू नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी तो यह है कि कोई भी संगठित हिंसक क्रान्ति समाज के बहुत बड़े वर्ग या संपूर्ण मेहनतकश जनता द्वारा कभी की ही नहीं जा सकती। इसका कारण यह है कि न तो पूंजीवादी राजनीतिक व्यवस्था इस तरह क्रान्ति करने का कोई मौका सर्वहारा को देगी और न ही सर्वहारा या मेहनतकश जनता में इतना सामर्थ्य रहता है कि वह इस क्रान्ति को कर सके। इसीलिए लेनिन ने यह विचार प्रकट किया है कि मेहनतकश जनता की अनियंत्रित भीड़ कभी भी क्रान्ति नहीं कर सकती। यह काम तो एक छोटे, अनुशासित, बौद्धिक दृष्टि से प्रखर, राज-नीतिक दृष्टि से जागरूक, मध्यम वर्ग के बुद्धिवादी वर्ग की कृतसंकल्प शक्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के बाद वर्गविहीन और राज्य विहीन समाज के कायम होने की कोई गारंटी

नहीं दी जा सकती। क्रान्ति का परिणाम अराजकता में भी फलित हो सकता है। फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद ऐसा ही हुआ था और फ्रांसीसी जनता 'क्रान्ति को क्रूरता' बताकर उससे बचने की गुहार लगाने लगी थी।

दिवालियापन

इसके साथ ही कनाडा, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, भारत, ब्रह्मा; श्रीलंका और पूर्वी जर्मनी सहित पूर्वी यूरोप के देशों की मुक्ति से यह भी स्पष्ट हो गया है कि संगठित हिंसक क्रान्ति के बिना भी राजनीतिक व्यवस्था में बड़ा परिवर्तन लाया जा सकता है। लेकिन मार्क्स और एंजिल्स ब्रिटेन, अमेरिका और अधिक से अधिक हालैंड में शान्तिपूर्ण परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था के विनाश की संभावना मानते हुए भी सामान्य तौर पर हिंसक क्रान्ति का ही समर्थन करते रहे। उनकी मान्यता यह थी कि इससे मेहनतकश जनता के पूंजीवादी व्यवस्था में पिसते रहने की अवधि कम हो जाएगी। इसलिए क्रान्ति करके सर्व-हारा वर्ग की तानाशाही कायम करना ही उपयुक्त है। पर तथ्यों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह मार्क्सवादी विश्लेषण पूरी तरह गलत सिद्ध हुआ है।

इसके अतिरिक्त इस विश्लेषण के अन्तर्गत पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध सफल क्रान्ति के बाद मेहनतकश जनता के तानाशाही शासन की समय-सीमा न बता पाना उसकी एक बड़ी कमजोरी है। उधर सन् १९१७ में रूस में हुई मेहनतकश सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के ७३ वर्ष बीत जाने पर भी वहाँ वर्गविहीन और राज्य विहीन समाज तो कायम नहीं हुआ, हाँ, सोवियत संघ की कम्युनिस्ट व्यवस्था या सर्वहारा वर्ग की तानाशाही जरूर चरमरा गई हैं। पूर्वी यूरोप के देशों और अन्य कम्युनिस्ट शासित व्यवस्थाओं में भी यही हुआ है। क्या इससे मार्क्सवादी दर्शन का दिवालियापन स्पष्ट नहीं हो जाता।

६. वर्गविहीन-राज्यविहीन आदर्श कम्युनिस्ट समाज की स्थापना

जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है मार्क्स और एंजिल्स की यह

दृढ़ धारणा थी कि मेहनतकश जनता की क्रान्ति के बाद जब सर्वहारा वर्ग की तानाशाही व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग का विनाश हो जायेगा तब सभी लोग एक ही वर्ग के होंगे। सभी मजदूर होंगे और उनमें कोई भेद-भाव नहीं होगा। अतः शोषण और शोषित का भेद मिट जाने पर राज्य नामक संस्था उसी तरह लुप्त हो जायेगी जिस तरह फूल की पंखुड़ियाँ अपने पूर्ण विकास के बाद अपने-आप कुम्हला कर पौधे से गिर जाती हैं। एंजिल्स के शब्दों में “अब वह युग आने वाला है जब संग्रहालयों में रखी जाने वाली प्राचीन वस्तुओं की तरह राज्य भी अतीत काल की एक वस्तु बन जाएगी”

राज्य के विलोप या तिरोहित हो जाने के बाद मानव समाज अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। यह वर्गविहीन और राज्यविहीन अवस्था आदर्श और स्थायी होगी। उसमें उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का नियंत्रण रहेगा। हर व्यक्ति अपनी पूरी योग्यता और क्षमता के आधार पर कार्य करेगा और अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ प्राप्त करेगा। यह स्वतंत्रता की वास्तविक अवस्था होगी और मानव परम सुखी रहेगा।

राज्य समाप्त नहीं हुआ

कहना न होगा कि मार्क्स और एंजिल्स का यह विश्लेषण भी तथ्य-पूर्ण नहीं है यद्यपि मार्क्स ने चार्ल्स फोरियर और राबर्ट ओवेन आदि पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों के विचारों को काल्पनिक कहकर उनकी खिल्ली उड़ायी थी लेकिन उसका अपना राज्य के तिरोहित या विलोप होने का सिद्धान्त कोरी कल्पना के अलावा कुछ भी नहीं है। इसका कारण यह है कि मानव जाति का जितना ज्ञात इतिहास आज तक उपलब्ध है उसमें राज्य नामक संस्था का अस्तित्व सदैव बना रहा है। फिर सोवियत संघ में मार्क्सवादी क्रान्ति के बाद भी राज्य समाप्त नहीं हुआ। क्रान्ति के ७३ वर्ष के बाद भी वह कायम है और इसके खत्म होने की कोई संभावना भी नहीं है। इसी तरह वर्गविहीन समाज कायम होने

की आशा करना भी कपोल-कल्पना के सिवा कुछ भी नहीं है। यूगोस्लाविया के सुप्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेतां मिलौवान जिलास के अनुसार तो सोवियत संघ में सामान्य जनता से अलग संगठित कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता शासकों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया है। यह वर्ग सर्वहारा तो दूर सामान्य व्यक्ति से भी अपने-आपको अलग एक पृथक् शासक वर्ग मानकर चलता रहा है। अतः माक्स का वर्गविहीन और राज्य विहीन समाज का विचार एक दिवा-स्वप्न से अधिक कुछ भी नहीं है। स्वयं लेनिन ने इस सचाई को पहचान लिया था और उसने कहा था कि “हम जानते हैं कि समाज में अपराधी और दुष्ट लोग हमेशा मौजूद रहेंगे और उनको नियंत्रण में रखने के लिए राज्य की आवश्यकता बराबर बनी रहेगी।” लेनिन के इसी कथन को आधार बनाकर बाद में सभी कम्युनिस्ट यह कहने लगे थे कि “पूँजीवादी व्यवस्था के पूरी तरह विनाश के बाद राज्य का स्वरूप बदल जायेगा और वह किसी वर्ग-विशेष की शोषणवादी संस्थान रहकर समाज की प्रतिनिधि संस्था बन जायेगी।” पर इतना सुनिश्चित है कि लेनिन और परवर्ती माक्सवादियों के इस विचार से माक्स और एंजिल्स का कोई लगाव नहीं था दूसरे शब्दों में राज्य के विलोप या तिरोहित होने का माक्सवादी सिद्धान्त भी एक कपोल-कल्पना ही सिद्ध हुआ है।

अध्याय चार

लेनिन और लेनिनवाद

सन् १८८३ में मार्क्स और सन् १८६५ में एंजिल्स का निधन हो गया। उधर पूंजी-वाद के लगातार विकास के बावजूद पश्चिमी यूरोप के किसी भी देश में पूंजी का केन्द्रीकरण कुछ मुट्ठी भर पूंजीपतियों के हाथों में नहीं हो सका और मध्यम वर्ग का विनाश होकर संपूर्ण समाज कुछ थोड़े से शोषक पूंजीपतियों और शेष समाज शोषित मेहनतकशों के वर्गों में नहीं बँट सका। उल्टे मध्यम वर्ग संख्या और सम्पन्नता की दृष्टि से अधिक सबल हो गया। मजदूरों के संगठित ट्रेड-यूनियन आंदोलन ने मेहनतकशों की दशा में भी सुधार किया। फलस्वरूप मार्क्स के विश्लेषण की तरह वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया तेज नहीं हो सकी। यहाँ तक कि जब सन् १९१४ में पहली बड़ी लड़ाई छिड़ी तब यूरोपीय देशों के सभी समाजवादी दल वर्ग-युद्ध छेड़ने के स्थान पर अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों के समर्थन पर आ खड़े हुए। इस स्थिति में मार्क्स के अनेक निष्ठावान अनुयायियों में से कार्ल काट्स्की, फ्रैंजमेहरिंग, रडोल्फ हिल्फरिंग, रोजाल्वेज्म्वर्ग, एच. एम. हिंडमैन, जार्ज प्लेखानोव आदि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का औचित्य सिद्ध करने में बड़ी कठिनाई अनुभव करने लगे। बर्नस्टीन द्वारा बतायी गई मार्क्सवाद की खामियाँ लोगों को उचित लगने लगीं। मार्क्स के परम भक्त व्लाडिमिर इल्या उल्लानोव उर्फ लेनिन को यह स्थिति सहन न हुई

और उसने मार्क्सवाद में नए तत्व जोड़ते हुए उसे दोष रहित और सही सिद्ध करने की कोशिश की।

लेनिन द्वारा त्रासदी का आरम्भ

मार्क्स का अत्यन्त निष्ठावान अनुयायी होने के साथ ही लेनिन सर्जोनेचमेव नामक एक रूसी क्रान्तिकारी की पुस्तक 'क्रान्ति-सूत्र' में दिए गए उन विचारों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था जिसमें उसने मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था को पूरी तरह नष्ट करके क्रान्ति की अनिवार्यता का जबरदस्त समर्थन किया था। इसी तरह उसने चेर्निशेवस्की नामक रूसी विद्वान के साहित्य से अपने विवेक को प्रमाण मानने की शिक्षा प्राप्त की थी। यही कारण है कि सन् १९१७ की राज्य-क्रान्ति के बाद अपने अन्तरंग मित्र बोखबुयेविच से एक बार लेनिन ने कहा भी था कि 'नेचयेव एक महान् क्रान्तिकारी था। उसके उपदेशों का जो प्रभाव तीस वर्ष पहले मुझ पर पड़ा था वह आज भी स्थायी है।..... उसका संपूर्ण साहित्य हमें फिर से छाप कर जनता के सामने रखना चाहिए।'

नेचयेव चेर्निशेवस्की के उपर्युक्त विचारों से प्रभावित होकर जब लेनिन ने मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की व्याख्या रूस की तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में करनी शुरू की तब वह इस सच्चाई को भूल गया कि ऐसा करते हुए वह मार्क्सवाद के मूल स्वरूप से दूर चला जा रहा है। पर वह तो चेर्निशेवस्की के शिक्षा के अनुसार अपने विश्लेषण को ही मार्क्सवाद की सही व्याख्या मानता और बताता रहा। यहाँ तक कि अपने शिक्षक और एक विचारक के रूप में अपने से श्रेष्ठ जार्ज प्लेखानोव के विश्लेषण को भी उसने सही मानने से इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि उसने सन् १९१७ की सफल राज्यक्रान्ति के बाद सोवियत संघ में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के नाम पर सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही कायम करने का ऐसा गलत काम किया जिसके फलस्वरूप वहाँ पर स्टालिनवादी अत्याचार का मार्ग आगे चलकर प्रशस्त हो गया। अब तो सुप्रसिद्ध सोवियत नाटककार रादज़िन्स्की ने साफ शब्दों में यह कह डाला है कि "हमारी

तासदी या दारुण विपत्ति तो लेनिन से शुरू होती है। स्टालिन तो उसके नक्शे कदम पर चलने वाला उसका शिष्य था।”

१. पूँजीवादी साम्राज्यवाद का सिद्धान्त

सर्व प्रथम लेनिन ने मार्क्सवाद की कमियों को दूर करने के लिए साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का सबसे विकसित रूप या उच्चतम व्यवस्था बताया और कहा कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ एकाधिकारवादी-वित्तीय पूँजीवाद अस्तित्व में आता है। अब यह एकाधिकारवादी पूँजीवाद अपनी अतिरिक्त पूँजी खपाने के लिए बाजार ढूँढ़ता है। जिससे साम्राज्यवाद का जन्म होता है। पर यह साम्राज्यवादी व्यवस्था द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से नियंत्रित होने की वजह से अपने विनाश के बीज अपने अंदर ही छिपाए हुए हैं। इसमें एक ओर तो उपनिवेशों के जन-समाज का भीषण कर उन्हें सर्वहारा बनने पर मजबूर कर दिया जाता है दूसरी ओर पूँजीवादी राष्ट्रों में अपनी साम्राज्यलिप्सा के कारण युद्धों को बढ़ावा मिलता है। फलस्वरूप वे मेहनतकश लोगों को सेना में भर्ती कर उन्हें सैनिक प्रशिक्षण देते हुए शस्त्रास्त्रों से लैस करते हैं। लेकिन आगे चलकर ये सशस्त्र सैनिक साम्राज्यवादियों के विरुद्ध क्रान्ति के वाहक बनते हैं और साम्राज्य-विस्तार के लिए पूँजीवादी राष्ट्रों द्वारा शुरू किए जाने वाले राष्ट्रीय युद्धों को वे अन्ततः वर्ग-संघर्ष पर आधारित वर्ग-युद्ध में बदल देते हैं। जिसमें पूँजीवाद का विनाश होना सुनिश्चित है।

तथ्यहीन सिद्धान्त

लेकिन लेनिन द्वारा मार्क्सवाद का किया गया यह समर्थन अत्यन्त लचर और तथ्यहीन है। लेनिन ने एकाधिकारवादी-वित्तीय-पूँजीवाद के द्वारा पूँजी के निर्यात की शुरुआत सन् १६१० से मानी है जो कि सही है। पर ब्रिटेन, फ्रांस, हालैंड आदि पश्चिमी देशों का साम्राज्य तो १८वीं-१९वीं शताब्दी में कायम होकर उसी समय से उपनिवेशों की धन-संपदा और प्राकृतिक स्रोतों का शोषण शुरू कर चुका था। लेकिन इन देशों ने उपनिवेशों में पूँजी का निर्यात तो किया ही नहीं था। उधर स्विट्जरलैंड

पूँजी का निर्यात करने में अग्रणी रहा पर उसका साम्राज्य कभी रहा ही नहीं। स्वीडन और डेन्मार्क बिना साम्राज्य के अपनी जनता का उच्च जीवन-स्तर कायम करने में सफल हुए। अमेरिका, कनाडा, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया आदि देशों की तरह दूसरी बड़ी लड़ाई के बाद मार्शल योजना के अन्तर्गत पश्चिमी यूरोप के देश पूँजी का आयात करते रहे। पर वे गुलाम नहीं बने। उल्टे एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देश पूँजी का आयात न करने पर भी साम्राज्यवाद के शिकार बने। पहली और दूसरी बड़ी लड़ाई की घटनाएँ भी लेनिन के इस विश्लेषण की पुष्टि नहीं करती कि पूँजीवादी देशों के बड़े-बड़े पूँजीपतियों ने अपनी सरकारों को युद्ध में झोंका हो। उल्टे या तो सरकारों ने पूँजीपतियों को युद्ध में उलझाया या हिटलर और मुसोलिनी विश्व युद्ध के कारण बने। दूसरी बड़ी लड़ाई के बाद पूर्वी यूरोप के देश सोवियत संघ की लाल सेनाओं की इन देशों में मौजूदगी के कारण कम्युनिस्ट बने थे, मार्क्सवादी दर्शन के लेनिनवादी भाष्य के आधार पर नहीं। सन् १९६० में कुवैती प्रश्न पर और उससे भी पहले दूसरी बड़ी लड़ाई के दौरान पूँजीवादी और कम्युनिस्ट देश की एकजुटता की ज्वलन्त घटनाएँ लेनिन के साम्राज्यवादी सिद्धान्त की व्याख्या को झूठा सिद्ध कर देती हैं।

२- क्रान्ति की अनिवार्यता का सिद्धान्त

यही बात उसके क्रान्ति के अनिवार्यता संबंधी विचारों में दिखाई देती है। मार्क्स और एंजिल्स ने क्रान्ति की अनिवार्यता के साथ ब्रिटेन, अमेरिका और संभवतः हालैंड में हिंसक क्रान्ति के समाजवाद की स्थापना की संभावना व्यक्त की थी। पर लेनिन ने उसे नहीं माना। वह तो सर्जो-नेचयेव के 'क्रान्ति-सूत्र' के अनिवार्यता सिद्धान्त को ही अंतिम सत्य मानता रहा। इसी तरह चेर्निशेवस्की से शिक्षा ग्रहण करते हुए प्रत्येक मामले पर अपने ही विश्लेषण को अन्तिम सचाई मानने का उसका स्वभाव बन गया। फलस्वरूप उसने मार्क्स और एंजिल्स के द्वारा 'कम्युनिस्ट-घोषणा-पत्र' और 'दास कैपिटल' में बताए गए हिंसक मार्ग को ही चुना।

बर्नस्टोन आदि लोकतांत्रिक समाजवादी नेताओं को 'संशोधनवादी' घोषित कर उसने उनके तर्कों को नामंजूर कर दिया ।

मार्क्सवाद से लगाव नहीं

इसमें संदेह नहीं कि अपने समय की रूस की राजनैतिक स्थिति का जितना सही आकलन लेनिन का था वैसा विश्लेषण अन्य कोई रूसी राजनेता नहीं कर सका । यही कारण है कि अक्टूबर १९१७ में हुई सफल राज्यक्रान्ति से पूर्व ही जिस तरह लेनिन रूस में क्रान्ति करने की अपरिहार्यता और अनिवार्यता पर बल दे रहा था उसके फलस्वरूप ही सोवियत राज्यक्रान्ति का सेहरा उसके सिर पर बाँध दिया गया, यद्यपि क्रान्ति का वास्तविक नेता ट्राट्स्की था । फिर भी अक्टूबर, १९१७ की यह सफल राज्यक्रान्ति मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं थी । इसका कारण यह है कि मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या के अन्तर्गत सर्वहारा या मेहनतकश जनता की क्रान्ति होने से पहले पूँजीवाद का पूर्ण विकसित रूप वहाँ कायम नहीं हुआ था । जबकि मार्क्सवादी दर्शन में छलाँग लगाकर सामन्तवाद से सीधे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम करने का शार्टकट नहीं अपनाया जा सकता । इसीलिए मार्क्सवाद के गंभीर अध्येता जार्जप्लेखानोव ने मार्च, १९१७ में हुई बुर्जुआ क्रान्ति का स्वागत करके लोकतांत्रिक सरकार को काम करने देने का समर्थन किया था । लेकिन लेनिन इस तर्कसंगत विश्लेषण को नामंजूर कर पहली बड़ी लड़ाई में रूसी शासक ज़ार द्वारा बिना किसी तैयारी के राष्ट्र को युद्ध में झोंक देने और रूसी सेनाओं की अपमानजनक पराजय से बढ़ रहे जन असन्तोष का लाभ उठाकर रूस में क्रान्ति करने के लिए बेचैन था ।

संयोगवश घटनाओं ने लेनिन के विश्लेषण की पुष्टि कर दी जबकि मार्क्सवादी दर्शन प्लेखानोव के पक्ष में था । पर सफलता से बढ़कर अन्य कोई सफलता नहीं होती थी कहावत के अनुसार किसी ने भी लेनिनवादी विश्लेषण में खामियाँ नहीं देखीं और इससे उसका अभिमान और अधिक

बढ़ गया। फिर भी उसका क्रान्ति संबंधी सिद्धान्त और उसका १९१७ में रूस में क्रियान्वयन मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रतिकूल ही था।

राज्य का विलोप

इसके अतिरिक्त लेनिन ने मार्क्स और एंजिल्स द्वारा प्रतिपादित राज्य के विलोप होने से संबंधित विश्लेषण में भी गंभीर संशोधन कर डाला। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि मार्क्स और एंजिल्स पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध सफल क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को संक्रमण कालीन या अस्थायी व्यवस्था मानते थे। उनका निश्चित मत था कि संक्रमणकाल की समाप्ति के बाद राज्य स्वयं नष्ट हो जाएगा। लेकिन लेनिन ने इस विषय में भी मार्क्सवादी विश्लेषण की व्याख्या करते हुए अक्टूबर, १९१७ की क्रान्ति के बाद फतवा दे डाला कि सच्चे लोकतंत्र और राज्यविहीन समाज के लिए सर्वहारा को सदियों तक प्रतीक्षा करनी होगी। पर जब शासन-सूत्र संभाल कर उसे वास्तविक समस्याओं का सामना करना पड़ा तब लेनिन को राज्य की समाप्ति के विषय में संदेह होने लगा था और इसलिए वह यह कहने लगा कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में राज्य का स्वरूप आगे चलकर शोषणवादी नहीं रह जाएगा। लेकिन उसका यह विश्लेषण मार्क्सवादी दर्शन के न तो अनकूल है और न ही घटनाओं ने सोवियत संघ या अन्य कम्युनिस्ट देशों में राज्य के शोषणवादी होने की पुष्टि की है। अतः लेनिन की व्याख्या तर्कसंगत और तथ्यपूर्ण नहीं है।

३- पार्टी की भूमिका

पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए क्रान्ति का समर्थन करने के बावजूद मार्क्स और एंजिल्स ने लिखा है कि क्रान्ति करने के लिए सन्नद्ध व्यक्तियों को राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों में उत्पन्न गंभीर तनाव और असन्तोष का जायजा लेने के बावजूद यह नहीं भूलना चाहिए कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति तभी संभव है जब उसके अनुकूल भौतिक हालात पूरी तरह उत्पन्न हो गए हों और पूँजी का केन्द्रीकरण कुछ

मुट्ठी भर हाथों में समिट कर रह गया हो। ऐसी स्थिति में क्रान्ति होने पर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही कायम हो सकेगी। फिर भी मार्क्स और एंजिल्स के विवरण में सर्वहारा और क्रान्ति की सूत्रधार कम्युनिस्ट पार्टी के आपसी संबंधों और उनकी पारस्परिक भूमिका के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है।

लेकिन इस विषय में लेनिन के विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। वह मार्क्स और एंजिल्स की शिक्षाओं के विपरीत क्रान्ति का नेतृत्व अत्यन्त सुदक्ष, प्रतिभावान, सुयोग्य, निष्ठावान मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों को सौंपते हुए कहता है कि सर्वहारा वर्ग एक बारगी अपने आप कभी भी क्रान्ति नहीं कर सकता। पर उसका यह विश्लेषण क्रान्ति के लिए भौतिक तत्त्वों के के स्थान पर विचार तत्त्व और मेहनतकश सर्वहारा वर्ग के स्थान पर बुद्धिजीवी बुर्जुआ मध्यम वर्ग को महत्व दे बैठता है जो मार्क्सवादी दर्शन की आधारभूत मान्यताओं के प्रतिकूल है।

कठोर लौह-अनुशासन

अपनी इस राजनीतिक सोच के आधार पर ही लेनिन ने क्रान्ति में कम्युनिस्ट पार्टी की निर्णायक भूमिका का समर्थन करने के साथ-साथ क्रान्ति के बाद उसके संरक्षण के लिए कठोर लौह अनुशासन पर आधारित पार्टी के संगठन की भी वकालत की थी। यद्यपि इन दिनों सोवियत राजनेता अपने देश की कम्युनिस्ट पार्टी के संपूर्ण तंत्र पर स्टालिन द्वारा कब्जा कर लेने के लिए उसकी बड़ी तीखी निन्दा करते हैं, लेकिन सचाई यह है कि इस लौह शिकंजे वाले कठोरतम अनुशासन की शुरूआत स्वयं लेनिन ने की थी। उसने अपने से तनिक भी मतभेद रखने वाले किसी भी नेता को अपने नेतृत्व वाली कम्युनिस्ट पार्टी में कभी भी टिकने नहीं दिया। उसका स्पष्ट अभिमत था कि सर्वहारा न तो अपने बल-बूते पर स्वयं क्रान्ति कर सकते हैं और न ही अपना भला-बुरा समझते हैं। अतः उनका मार्ग-दर्शन करने और सर्वहारा की क्रान्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए कठोर लौह अनुशासन से युक्त कम्युनिस्ट पार्टी की सर्वोच्चता या तानाशाही

व्यवस्था को स्वीकार करना सर्वहारा के अपने हित में है। इसके विपरीत मार्क्स ने अपनी रचनाओं या वाणी से कभी भी कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही कायम करने का समर्थन नहीं किया था। उसका तो स्पष्ट मत था। कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की व्यवस्था में राज्य अभी तक के मानव इतिहास में सबसे अधिक लोकतांत्रिक होगा क्योंकि उसमें मुट्ठी भर पूँजी-पतियों को छोड़कर संपूर्ण शक्ति पूरे समाज या सर्वहारा के हाथों में होगी। सन् १८४८ में प्रकाशित 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' में भी मार्क्स ने अपने इसी विचार को दोहराया था। लेनिन लेनिन ने मार्क्स की इन मान्यताओं की परवाह न करते हुए सर्वहारा की तानाशाही के नाम पर मेहनतकश जनता के ऊपर कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही कायम कर दी। फिर भी यह कहा जा सकता है कि लेनिन ने अपने इस मन्तव्य को कभी छिपाया नहीं और मार्क्स द्वारा रचित 'फ्रांस में गृह-युद्ध और १८७५ के गोथा कार्यक्रम की टीका' नामक पुस्तकों की विषय-वस्तु की व्याख्या करते समय उसने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है। इसके बाद उसने पार्टी-संगठन में लोकतांत्रिक केन्द्रवाद के सिद्धान्त को लागू करके सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी में एक व्यक्ति की तानाशाही कायम करने का मार्ग साफ कर दिया था। इस संबंध में ट्राट्स्की ने जो कुछ लिखा है उससे तो इस विषय में संदेह या शंका करने की कोई गुंजाइश ही शेष नहीं रह जाती। उसका कहना है कि "पहले पार्टी पर उसका तंत्र, फिर पार्टी के संगठन पर उसकी केन्द्रीय समिति और अन्त में पार्टी की केन्द्रीय समिति के ऊपर स्वयं तानाशाह हावी हो जाता है।" इस तरह संपूर्ण कम्युनिस्ट पार्टी पर एक तानाशाह नेता का नियंत्रण कायम हो जाता है और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित लोकतांत्रिक व्यवस्था एकबारगी ही ढह जाती है।

४. लेनिनवाद का मूल्यांकन : दोगला या नकली मार्क्सवाद

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लेनिन ने अपनी रचनाओं व्याख्या और कार्यप्रणाली के द्वारा मार्क्सवाद को पूरी तरह विकृत कर दिया। फिर भी वह अपने मत को ही सच्चा मार्क्सवाद बताता

रहा । संयोगवश अक्टूबर, १९१७ में रूस में केरेन्स्की सरकार का तख्ता पलटकर बोल्शेविक या सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का शासन लेनिन के नेतृत्व में कायम होने का अवसर आ गया और उसके बाद संपूर्ण विश्व के कम्युनिस्ट पहले लेनिन और उसके बाद स्टालिन आदि के विश्लेषण को ही मार्क्सवाद का सही रूप मानते रहे । किन्तु सच्चाई यह नहीं थी और इसी कारण मार्क्स के निष्ठावान अनुयायियों में से कौट्स्की आदि ने लेनिन की शिक्षाओं पर गहरा संदेह भी प्रकट किया था । लेकिन रूसी क्रान्ति की सफलता से चौंधियाए संसार के कम्युनिस्ट उसे देख और समझ नहीं पाये । वे तो इस सच्चाई को भी देखने में असमर्थ रहे कि १९१७ की जिस अक्टूबर क्रान्ति को विश्व की महानतम क्रान्ति बताने का ढिंढोरा वे दुनिया भर में पीटते रहे थे उसने जारशाही का खात्मा रूस में नहीं किया । वह तो उससे सात महीने पहले १५ मार्च, १९१७ को ही जार निकोलस द्वितीय के राज्यसिंहासन का परित्याग करने से खत्म हो चुकी थी और उसके बाद वहाँ अन्तरिम लोकतांत्रिक सरकार कायम हो गई थी । इस संबंध में समस्त घटनाओं का तथ्यपूर्ण विवरण देते हुए केरेन्स्की ने लिखा है कि “जार के अत्याचारी शासन को कम्युनिस्टों द्वारा नष्ट किया जाना बताना इस शताब्दी का सबसे बड़ा झूठ है ।वल-प्रयोग और विश्वासघात की सहायता से कम्युनिस्टों ने यदि कुछ नष्ट किया है तो वह है रूस का नवजात लोकतंत्र, न कि जारशाही क्योंकि जारशाही के विरुद्धसंघर्ष १२ मार्च को शुरू हुआ था और उस संघर्ष में किसी भी बोल्शेविक (कम्युनिस्ट) ने भाग नहीं लिया था । लेनिन उस समय विदेश में था, ट्राट्स्की कारागार में था और स्टालिन निर्वासित के रूप में जीवित बिता रहा था ।” स्वयं लेनिन ने उस समय उस क्रान्ति की प्रशंसा करते हुए कहा था कि “अब रूस यूरोप का सर्वाधिक स्वतंत्र राष्ट्र हो गया है और रूसी जनता दबाव से मुक्त हो गई है ।” अतः बोल्शेविकों या रूसी कम्युनिस्टों ने तो अक्टूबर १९१७ की क्रान्ति उस नवजात केरेन्स्की सरकार के विरुद्ध की थी जो लोकतांत्रिक तरीकों से देश में शान्ति-व्यवस्था

कायम करके राष्ट्र का नवनिर्माण करने के अपने संकल्प-पथ पर आगे बढ़ रही थी और जिसने जार शाही के अन्दर दंडित कम्युनिस्टों को मुक्त कर दिया था। यदि ऐसा न किया जाता तो अक्तूबर क्रान्ति के घटित होने का मौका ही उपस्थित नहीं होता। किन्तु झूठ बोलना और कृतघ्नता दिखाना तो कम्युनिस्टों की रग-रग में समाया हुआ है। अतः वे आज तक यही प्रचार करते रहे हैं कि जारशाही का खात्मा उन्होंने किया है। इसके विपरीत लेनिन ने तो १६ जुलाई, १९१८ को साइबेरिया के एकाटेरनबर्ग नामक नगर में निर्वासित जीवन बिताने वाले जार निकोलस द्वितीय और उसके संपूर्ण राज-परिवार की अत्यन्त नृशंसतापूर्वक हत्या करा दी थी और यह प्रचार किया था कि साइबेरिया के तत्कालीन अधिकारियों ने उसकी जानकारी या मंजूरी के बिना ही जार के संपूर्ण परिवार को मौत के घाट उतार दिया था। लेनिन एडवर्ड राइजिन्स्की नामक सुविख्यात सोवियत नाटककार ने पिछले दिनों सोवियत संघ के अभिलेखागार में से अधिकृत दस्तावेजों को पढ़कर यह जानकारी अब संसार को दी है कि लेनिन के अंगरक्षक एलेक्सी अखीमोव ने लेनिन का हस्त-लिखित और उसके हस्ताक्षर से युक्त आदेश संबंधित अधिकारियों को पहुंचाया था और उसके बाद ही जार निकोलस द्वितीय और उसके संपूर्ण परिवार की नृशंस हत्या कर दी गई थी। लेनिन की कृतघ्नता का दूसरा नमूना उसके द्वारा केरेन्स्की के विरुद्ध की गई क्रान्ति है क्योंकि विद्यार्थी अवस्था में उसे कजान विश्वविद्यालय में प्रवेश केरेन्स्की के पिता फिओडोर केरेन्स्की के पत्र से ही मिल सका था। उस समय वे लेनिन के अभिभावक भी थे। लेनिन के पिता इत्या निकोलाय उल्यानोव ने अपनी वसीयत में फिओडोर केरेन्स्की को ही अपने पुत्रों का अभिभावक नियुक्त किया था। लेकिन अपने उसी संरक्षक के सुयोग्य पुत्र और जारशाही को नष्ट करके लोकतंत्र कायम करने वाले अलेक्जेंडर केरेन्स्की के विरुद्ध अपनी राज्य-लिप्सा के कारण शस्त्र उठाने और संपूर्ण रूसी समाज को कठोरतम लौह-शिकंजे में जकड़ देने में लेनिन को तनिक भी संकोच नहीं हुआ। यही

कारण है कि अनेक विद्वानों ने न केवल लेनिन के इस कृत्य के लिए उसकी तीव्र भर्त्सना की है बल्कि सुप्रसिद्ध विद्वान सी० एल० वेपर ने उसके द्वारा प्रतिपादित मार्क्सवाद को 'दोगला या नकली मार्क्सवाद' का नाम तक दे डाला है ।

५- लेनिन का दुःखद अन्त

लेनिन द्वारा सोवियत संघ में विकृत मार्क्सवाद के परिणामों से आज का विश्व अनभिज्ञ नहीं है । उसके शासन-काल के प्रारंभिक दिनों में ही जेजिन्स्की नामक एक हृदयहीन कम्युनिस्ट के नेतृत्व में 'चेका' नामक सर्वशक्तिमान गुप्त पुलिस संगठन खड़ा करके संपूर्ण देश को एक विशाल जेलखाना बना दिया गया था । आगे चलकर यह 'चेका' नामक संगठन 'ओ० जी० पी० यू०', एन० के० बी० डी०, एम० बी० डी० और अन्त में के० जी० बी० के नाम प्राप्त करता रहा । लेकिन इससे उसके अत्याचारी स्वरूप में कोई कमी नहीं आने पायी । इस संबंध में यह तथ्य ध्यान रखने योग्य है कि क्रान्ति के तुरन्त बाद लेनिन ने सार्वजनिक घोषणा द्वारा अपने देशवासियों को यह चेतावनी दे दी थी कि "जो कोई भी नयी शासन-व्यवस्था का विरोध करेगा उसे उसी स्थान पर गोली मार दी जाएगी ।" वह अपने सहयोगियों से साफ शब्दों में कहा करता था कि "जो व्यक्ति हमारे विरोध में कार्य करे उसे यदि हमने परलोक नहीं पहुंचाया तो हमारी क्रान्ति किस काम की ।" २६ जून, १९१८ को लेनिन ने अपने एक सहयोगी जिनोबेव को एक पत्र में लिखा था कि "बोलोडारस्की की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए मजदूर वर्ग सामूहिक हत्याएँ करने जा रहा था । किंतु तुम लोगों ने उन्हें ऐसा नहीं करने दिया । यदि यह बात सच है तो मैं तुम्हें धिक्कारता हूँ ।" एक बार मंत्रिमंडल की बैठक चलते समय सोवियत गुप्तचर पुलिस संगठन के प्रमुख जेजिन्स्की से जेलों में १५०० क्रान्ति विरोधी बंदियों की जानकारी मिलने पर लेनिन ने उन्हें फाँसी पर चढ़वा दिया था । स्वभाव से वह इतना असहिष्णु था कि उसने नवम्बर, १९१८ में मेलिनोवस्की नामक अपने एक पूर्व सहयोगी

को गोली मरवा दी थी। छोटा-मोटा विरोध भी उसे सहन नहीं था और यदि कोई सरकार विरोधी पत्रक बाँटते भी दिख जाए तो उसे गोली से उड़ा देने का स्थायी आदेश उसने दे रखा। इसीलिए अब सभी राज-नीतिक प्रेक्षकों की यह धारणा है कि "अगर पहले लेनिन न हुआ होता तो स्टालिन का अस्तित्व भी न होता। एक दृष्टि से स्टालिन लेनिन की ही संतान था।" अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वह स्टालिन को अत्यंत घृणित गालियाँ दिया करता था। परन्तु उससे स्थिति में कोई अन्तर नहीं आने पाया और जिस तरह धोखे से लेनिन ने जार निकोलस द्वितीय और उसके पूरे परिवार की वर्बतापूर्ण हत्या करायी थी, कहा जाता है उसका खामियाजा उसे अपने उत्तराधिकारी स्टालिन के षड्यंत्र से विष पीकर चुकाना पड़ा जिसमें उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

अध्याय पाँच

स्टालिन और उसके उत्तराधिकारी

स्टालिन का शासन—काल तो अपनी नृशंसता और पाशविकता के लिए कुख्यात रहा है। मास्को और लेनिनग्राद के जिन सशक्त सोवियतों के प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओं कामेनेव और जिनोवेव की सहायता से स्टालिन ने ट्राट्स्की का पत्ता साफ किया था, उन्हें पदच्युत करते उसे देर नहीं लगी। इतना ही नहीं कम्युनिस्ट पार्टी के लेनिनकालीन अपने सभी प्रमुख सहयोगी—कामेनेव, जिनोमेव, बुखारिन, रोडेक, तुखाचेवस्की, रिफोव आदि को उसने मरवा डाला। यहाँ तक कि क्रान्ति के नेता और अपने से वरिष्ठ सहयोगी ट्राट्स्की की भी उसने सन् १९४० में मेक्सिको में हत्या करा दी। यह सभी दुष्कर्म वह लेनिनवाद के नाम पर करता रहा। लेनिन की क्रांतिकारी छवि और कम्युनिस्ट जगत् का सर्वश्रेष्ठ नेता होने की उसकी ख्याति को भुनाने के लिए उसने लेनिन के शव को दफनाया भी नहीं। इसके बजाए उसे काँच की एक शव पेटिका में रखकर मास्को के लाल चौक में लेनिन का भव्य स्मारक बनाकर उसे देवत्व प्रदान करने का काम स्टालिन ने किया। दूसरी ओर लेनिन की मृत्यु के तुरन्त बाद ट्राट्स्की ने लेनिन के विश्वव्यापी कम्युनिस्ट क्रांति करने की शिक्षा में ठोस और सुनियोजित व्यूह—रचना किए जाने का सुझाव दिया तब स्टालिन ने उसका उपहास उड़ाते हुए यह टिप्पणी की कि “लेनिन को तो क्रान्ति का शौक था।”

अत्यन्त चतुरतापूर्ण ढंग से वह लोगों के गले इस बात को उतारने में लगा हुआ था कि अक्टूबर, १९१७ की क्रान्ति का वास्तविक नायक स्टालिन ही है। लेनिन की मृत्यु के बाद नवम्बर, १९२४ में एक सभा में बोलते हुए स्टालिन ने कहा था कि "कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण और अक्टूबर क्रान्ति में ट्राट्स्की का योगदान अत्यल्प था। ऐसा होना स्वाभाविक था क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी में उसका प्रवेश उसी समय हुआ था। क्रान्ति के समय लेनिन अज्ञातवास में था और ट्राट्स्की नया था। क्रान्ति के लिए अनिवार्य पार्टी संगठन तो मैंने खड़ा किया था। क्रान्ति के बाद हुए विद्रोह का दमन भी मैंने अकेले किया था।' लेकिन यह सब बोलते समय स्टालिन इस सच्चाई को भूल गया था कि क्रान्ति के कुछ समय पूर्व तक तो वह साइबेरिया में निर्वासित जीवन बिता रहा था और क्रान्ति का वास्तविक नेतृत्व तो ट्राट्स्की ने ही किया था।

बर्बरतापूर्ण दमन

स्टालिन को कम्युनिज्म या मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से लेशमात्र भी लगाव नहीं था। वह तो अत्यन्त निरंकुश प्रकृति का एक ऐसा व्यक्ति था जो पार्टी तथा शासन के सभी सूत्र अपने हाथों में केन्द्रित कर संपूर्ण विश्व का तानाशाह बनने का स्वप्न देख रहा था। अतः लेनिन की मृत्यु के बाद सोवियत-संघ में मेहनतकश जनता के तानाशाही शासन के नाम पर बर्बर-तापूर्ण दमनकारी शासन लागू करने, जनता के अधिकारों और आजादी का गला घोटने, पार्टी के शुद्धिकरण के बहाने अपने से मतभेद रखने वाले अपने ही हर प्रमुख सहयोगी को मौत के घाट उतारने, जबरन सामूहिक खेती करने की नीति को लागू करने और अपनी नीतियों का विरोध करने वाले लोगों को साइबेरिया के शून्य से भी नीचे रहने वाले तापमान की कड़कड़ाती ठंड के अन्दर बन्दी शिविरों में सड़ने के लिए छोड़ देने की ऐसी पाशविक नीति उसने अपनायी जिसमें उसके २६ वर्ष के निरंकुश शासन-काल में लाखों निर्दोष सोवियत नागरिक मौत के घाट उतार दिये गये। किन्तु यह सभी अत्याचार स्टालिन लेनिन-प्रणीत लौकतांत्रिक

केन्द्रवाद के नाम पर करता रहा और मार्क्सवाद-लेनिनवाद की मनचाही व्याख्या करके उसे 'मार्क्सवाद लेनिनवाद स्टालिनवाद' का नाम उसने दे दिया। इस प्रकार उसने न केवल सोवियत संघ पर अपना लौह-शिकंजा कस दिया बल्कि पहले 'कामिन्टर्न' और बाद में 'कामिन्फार्म' की सहायता से संसार की सभी कम्युनिस्ट पार्टियों पर उसने अपनी निरंकुश सत्ता भी प्रस्थापित कर ली।

साम्राज्यवाद का विस्तार

दूसरे महायुद्ध के छिड़ने से पहले २४ अगस्त १९३९ को नाजी जर्मनी के साथ मोलोटोव - रिबनट्राप संधि स्टालिन ने संपन्न करायी थी। इस संधि के फलस्वरूप चेकोस्लोवाकिया पर नाजी जर्मनी के अधिकार को मान्यता देकर स्टालिन ने जून, १९४० में लिथुआनिया लटविया और एस्टोनिया को उदरस्थ कर लिया। यद्यपि इसके पहले सोवियत संघ इन तीनों बाल्टिक राज्यों से अनाक्रमण संधियाँ करके उनकी स्वतंत्रता की गारंटी उन्हें दे चुका था, लेकिन ये सभी अभिवचन १४ से १६ जून, १९४० के बीच भुला दिये गये और स्टालिन ने २५ सितम्बर १९१८ को सोवियत संघ की सरकार के मुख-पत्र 'इजवेस्तिया' में दिये गये उस कथन को सत्य सिद्ध कर दिया जिसमें कहा गया था कि "एस्टोनिया, लटविया और लिथुआनिया सोवियत संघ से पश्चिम यूरोप की ओर जाने वाले रास्ते में पड़ते हैं और इसलिए वे हमारे क्रान्ति-पथ के रोड़े हैं।..... यदि बाल्टिक सागर पर हमारा कब्जा हो जाए तो स्कैंडिनेविया के देशों में समाजवादी क्रान्ति कराना आसान हो जायेगा और तब बाल्टिक सागर सामाजिक क्रान्ति का सागर बन जायेगा।" इसके बाद जब जून १९४१ में नाज़ियों ने सोवियत संघ पर अपना हमला कर दिया तब मार्क्सवाद के घोषित परम शत्रु पूँजीवादी देशों और विन्स्टन चर्चिल तथा फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के बगलगीर होते स्टालिन को देर नहीं लगी। अब साम्राज्यवादी युद्ध, 'जनवादी युद्ध' में बदल गया। इसके साथ ही स्टालिन ने अब मार्क्सवादी अन्तर्राष्ट्रीयता की नकाब उतार कर 'मातृ-

भूमि रूस को वचाओ' का नारा सोवियत जनता को देकर उसकी राष्ट्र-भक्ति जगाने का बुर्जुआवादी कार्यक्रम पूरी शक्ति के साथ शुरू कर दिया जिससे सोवियत संघ की रक्षा की जा सके। सन् १९४४ में जर्मनी के पराभव के बाद पोलैंड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, अल्बानिया, बुल्गारिया, रूमानिया आदि को वह अपनी लाल सेनाओं की सहायता से निगल गया। अकेले पोलैंड में ही १५००० पोलिश युद्धबन्दी सोवियत सेनाओं के द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये। लेकिन प्रचार यही किया जाता रहा कि यह जघन्य अपराध नाजी जर्मनी के सैनिकों ने किया है। अप्रैल १९६० में सोवियत संघ ने अपने अपराध को स्वीकार कर इन हत्याओं के लिए पोलिश राष्ट्र से सार्वजनिक क्षमा माँगी है। इसके अतिरिक्त स्टालिन ने अपने देशकी सीमा से लगे हुए लगभग १ लाख १० हजार वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र को पोलैंड से जबरन छीनकर सोवियत संघ में मिला लिया और उसे मोल्डेविया गणराज्य नाम दे दिया गया। इसके बदले में उसे पूर्वी जर्मनी के सेलेशिया पोमेरिया और पूर्वी प्रशा के लगभग १ लाख २ हजार वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र दे दिया गया। यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो द्वारा स्टालिन की अधीनता स्वीकार न करने पर उसे अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन से निकाल दिया गया। जर्मनी और उसकी ऐतिहासिक राजधानी बर्लिन के विभाजन के लिये भी स्टालिन ही जिम्मेदार था। उसकी योजना संपूर्ण जर्मनी को निगल जाने की थी। इसी उद्देश्य से उसने सन् १९४८ में पश्चिमी बर्लिन की नाकेबन्दी की थी। पर जब वह सिरें नहीं चढ़ सकी तब २५ जून, १९५० को उसने उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर हमला करा दिया। इसके पहले संपूर्ण पूर्वी योरप को अपना उपनिवेश बनाने और इस क्षेत्र के देशों को अपने लौह-शिकंजे में जकड़ने के लिए उसने वारसा संधि संगठन और कामेकॉन के नाम से पूर्वी यूरोपीय पारस्परिक सहायता संधि संपन्न करा डाली। पर कोरिया में उसका पड़यंत्र सफल न हो सका और उसकी हताशा ने ऐसी गम्भीर बीमारी का रूप ले लिया जिसने ५ मार्च, १९५३ को उसकी जीवन-लीला समाप्त कर

दी कहा जाता है कि स्टालिन की इस अन्तिम बीमारी के दौरान उसे उचित चिकित्सा सहायता नहीं दी गई जिससे उसका अन्त शीघ्र निकट आ गया। संभवतः प्रकृति ने लेनिन को कथित रूप से विष देने का प्रति-कार उससे लेने के लिये इसी तरीके को उचित समझा था।

ख़ुश्चेव की कारगुजारियाँ

स्टालिन के दृश्य-पटल से हटते ही निकिता ख़ुश्चेव ने सोवियत संघ का नेतृत्व संभाला। मार्च १९५३ से अक्टूबर १९६४ के उसके कार्यकाल को प्रायः उदारवादी कहा जाता है क्योंकि फरवरी, १९५६ में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की २०वीं ऐतिहासिक कांग्रेस में उसने स्टालिन के अत्याचारों का कच्चा चिट्ठा खोला था। पर पूर्वी जर्मनी, पोलैंड और हंगरी में कम्युनिस्ट शासन के विरुद्ध हुए विद्रोहों का निर्भयतापूर्ण दमन उसी ने किया था। हंगरी के इमरेनज़ और उसके कई सहयोगियों को तो उसने अन्तर्राष्ट्रीय अभिवचन तोड़ कर मौत के घाट उतार दिया था। सन् १९६० में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में मेज पर जूता पटक कर विश्व संगठन की गरिमा और प्रतिष्ठा उसने ही नष्ट की थी। सन् १९६१ में कुख्यात बर्लिन दीवार उसी ने बनवायी थी। सन् १९५३ में पार्टी का नेतृत्व संभालते ही के० जी० बी० प्रमुख बेरिया सहित सात प्रमुख नेताओं को उसने गोली से उड़वा दिया था। मोलोटोव, वोरोशिलोव, मेलेन्कोवा, बुल्गानिन आदि को एकाकी जीवन बिताने पर उसने ही मजबूर किया था। स्टालिन के मरने के दो दिन बाद ७ मार्च १९५३ को सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के जिन २० शीर्ष नेताओं की सूची प्रकाशित हुई थी उसमें से उसके अलावा केवल निकोयान और सुस्लोव ही महत्वपूर्ण पदों पर बने रह सके थे। शेष को या तो परलोक भेज दिया गया था या निर्वासित कर दिया गया था।

ब्रेझ्नेव के अत्याचार

अक्टूबर १९६४ में ख़ुश्चेव के पतन के बाद कमान लियोनाद ब्रेझ्नेव ने संभाली। २४ शीर्ष कम्युनिस्ट नेताओं की सूची प्रकाशित हुई। पर

अनस्तास निकोयान से शुरुआत होकर एक-एक करके सभी की छुट्टी कर दी गई। अगस्त, १९६८ में चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रवादी आंदोलन का वर्चस्वपूर्ण दमन करके ब्रेझनेव ने समाजवादी देशों के द्वारा राष्ट्रीय संप्रभुता को नामंजूर करने का अजीबोगरीब ब्रेझनेव सिद्धान्त संसार के सामने रख दिया। इसके बाद अपने लम्बे शासन-काल के दौरान नवम्बर, १९७६ में उसने अफगानिस्तान में सेनाएँ भेजकर सोवियत संघ की अर्थ व्यवस्था को पलीता लगा दिया। विश्व में तनाव बढ़ा। नौ वर्षों तक लाखों सोवियत सैनिकों के वहाँ रहने के बावजूद वे अफगान राष्ट्रवादियों की कमर नहीं तोड़ सके। उल्टे १५००० से अधिक सोवियत सैनिक खेत हुए। अर्थ व्यवस्था को चौपट होते देख फरवरी, १९८६ में मिखाइल-गोर्बाचेव ने अपनी सेनाएँ वापस बुला लीं। फिर भी १५ गणराज्यों और कई स्वायत्तशासी प्रदेशों में भड़कते हुए असन्तोष को रोका न जा सका। जातीय दंगे शुरू हो गए और सोवियत राष्ट्र की एकता और अखंडता के सम्मुख गहरा प्रश्न चिन्ह खड़ा होने लगा।

ताश का महल गिरा

इसकी प्रतिक्रिया पूर्वी योरोप पर बहुत गहरे रूप में हुई। ६ नवम्बर १९८६ को कुख्यात बर्लिन दीवार गिरा दी गई। उसके साथ ही पूर्वी योरोप के सभी देश एक-एक करके सोवियत साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हो गए। जर्मनी का एकीकरण हो गया। पूर्वी जर्मनी के तानाशाह एरिक होनेकर, उसकी पत्नी श्रीमती होनेकर, रूमानिया के कम्युनिस्ट नेता निकोलाई चाऊशेस्कू, पत्नी एलिनायाऊशेस्कू और उनके पुत्र-पुत्रियों के विलासिता, चरित्रहीनता, भ्रष्टाचार और अत्याचारों की सच्ची घटनाएँ सुनकर संसार दंग रह गया। एलिना चाऊशेस्कू ने तो अपने जूतों में बहुमूल्य हीरे जड़वा रखे थे। पर परिवर्तन की आँधी ने इन सभी को उड़ा दिया। वारसा संधि संगठन भंग हो गया। हंगरी, बल्गारिया, रूमानिया, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया आदि देश स्वतंत्र हो गए। अल्बानिया और यूगोस्लाविया, पहले ही सोवियत नियंत्रण से बाहर थे। अब मार्क्सवाद से यूगोस्लाविया

का मोह-भंग पूरी तरह होकर वह विघटन के कगार पर है। स्वयं सोवियत संघ में अर्थ व्यवस्था नष्ट-प्राय है। राजनीतिक एकता और अखंडता समाप्त हो रही है। लिथुआनिया लटविया, एस्टोनिया के तीन बाल्टिक राज्यों के साथ-साथ पोलैंड के भूभाग से गठित मोल्डेविया, स्टालिन की जन्मभूमि जार्जिया और आर्मेनिया नामक छः गणराज्य उससे प्रायः अलग हो चुके हैं। 'सोवियत समाजवादी गणराज्यसंघ' (यू० एस० एस० आर०) अब 'समान संप्रभु राज्य संघ' होने जा रहा है।

इस विवरण से सोवियत विदेश नीति के वे उद्देश्य धराशायी हो गए हैं जिनमें सर्व प्रथम पूर्वी योरप के कम्युनिस्ट देशों को पश्चिमी देशों और सोवियत संघ के बीच मध्यवर्ती तटस्थ क्षेत्र बनाना था। दूसरे पूर्वी योरप के देशों को सोवियत संघ का पिछलग्गू बनने पर बाध्य करना था। तीसरे, उनके आर्थिक और वित्तीय स्रोतों का सोवियत संघ के हित में शोषण करना था और चौथे, संभावित तीसरे विश्व-युद्ध में इन राष्ट्रों को ढाल के रूप में प्रयोग करना था।

मार्क्सवाद को अलविदा

ये उद्देश्य तो पूरे नहीं हुए उल्टे यह स्पष्ट हो गया कि लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव, आंद्रोपोव, ब्रेझनेव, चरेनेन्को और गोर्बाचिव के द्वारा अपनायी गई नीतियों का मार्क्सवाद से कोई संबंध नहीं है। हर व्यक्ति को रोटी, कपड़ा और मकान दिलाने का पक्का आश्वासन देकर शोषणविहीन, वर्गरहित समाज की स्थापना का सब्ज बाग दिखाने का लुभावना आकर्षण मिट्टी में मिल चुका है। पूर्वी योरप और सोवियत संघ मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था को ठुकरा कर बाजार पर आधारित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को अब गले लगा रहे हैं। चीन और मंगोलिया तो पहले ही मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था को अलविदा कह चुके हैं। उत्तरी कोरिया उस मार्ग पर बढ़ने जा रहा है। अल्बानिया में परिवर्तन की बयार चल पड़ी है। देर-सवेर क्यूबा आदि देश भी मार्क्सवाद से पल्ला झाड़ लेंगे, इसमें संदेह नहीं। पूर्वी योरप के प्रायः सभी कम्युनिस्ट देशों ने बहुदलीय प्रणाली अपनाकर लेनिन के लोक-

तांत्रिक केन्द्रवाद पर आधारित कम्युनिस्ट पार्टी की एकाधिकारवादी तानाशाही व्यवस्था को पूरी तरह ठुकरा दिया है। स्वयं सोवियत संघ में पार्टी के एकाधिकार को दफनाने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। १९८६-८० के डेढ़ वर्ष के कालखंड में पोलैंड के वित्तमन्त्री लेसज़र बालसेरोविक्ज़ ने देश की आर्थिक और वित्तीय स्थिति को सुधार कर मार्क्सवाद की अव्यावहारिकता और उसका खोखलापन जग-जाहिर कर दिया है। डेढ़ वर्ष के अल्पकाल में उसने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय साख कायम करके मार्क्सवादी व्यवस्था के सोवियत संघ की स्थिति जटिल बना दी है। संक्षेप में लेनिनवादी मार्क्सवाद ने सोवियत संघ और पूर्वी योरप सहित संसार के अनेकानेक देशों को लाभ से अधिक हानि पहुंचाकर मार्क्सवाद को दफनाने का मार्ग पूरी तरह साफ कर दिया है।



अध्याय छः

भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का जन्म और विकास

भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन अपने जन्म काल से ही विडम्बनाओं का शिकार रहा है। पहले महायुद्ध की समाप्ति पर ब्रिटेन और फ्रांस जैसे विजेता यूरोपीय राष्ट्रों ने टर्की के आत्मोन-साम्राज्य को विघटित करने के साथ ही टर्की के शासक खलीफा की हुकूमत भी समाप्त कर दी। भारत के मजहबी-उन्मादी मुसलमान वर्ग में इसकी जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई और उनमें से अनेक व्यक्ति देश से पलायन या हिजरत करके विदेशों में चले गए। ऐसे ही कुछ युवा मुस्लिम जोश में आकर सोवियत संघ पहुंच गए। उन्हें अक्टूबर, १९१७ की सोवियत राज्य क्रान्ति ने मोह लिया था। इसी दौरान लेनिन के आमंत्रण पर मानवेन्द्रनाथ राय भी सोवियत संघ पहुंच गए थे। लेनिन से उनकी भेंट हुई और लेनिन राय की राजनीतिक सूझ-बूझ, कुशाग्र-बुद्धि और कार्य क्षमता आदि गुणों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने मानवेन्द्रनाथ राय को अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का नियंत्रण करने वाली संस्था कम्युनिस्ट इंटरनेशनल या कामिन्टर्न की कार्यकारिणी समिति का सदस्य बनाकर उपनिवेश संबंधी मामलों में परामर्शदाता का दायित्व उन्हें सौंप दिया।

कम्युनिस्ट पार्टी ताशकंद में गठन

पहले महायुद्ध के दौरान सुप्रसिद्ध राष्ट्रभक्त लाला हरदयाल और सरदार मोहनसिंह ने विदेशों में गदर पार्टी कायम की थी। उनका उद्देश्य महायुद्ध में अंग्रेजों के यूरोप और पश्चिमी एशिया में फँसे होने का लाभ उठाकर सशस्त्र क्रान्ति द्वारा देश को पराधीनता से मुक्त करना था। लेकिन जब उनके प्रयत्न सफल नहीं हुए तब गदर पार्टी के संतोषसिंह, रतनसिंह, और गुरुमुखसिंह जैसे कुछ क्रान्तिकारी लेनिन के करिश्मावादी नेतृत्व से प्रभावित होकर १९२० में सोवियत संघ पहुँच गए। इस देश के वरिष्ठ कम्युनिस्ट नेता स्वर्गीय मुजफ्फर अहमद के अनुसार इन सभी तत्वों और व्यक्तियों को साथ लेकर मानवेन्द्रनाथ राय ने १७ अगस्त, १९२० को ताशकंद के सैनिक स्कूल या सोवियत संघ की भूमि पर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का सर्वप्रथम गठन किया था और सन् १९२१ में उन्हें कम्युनिस्ट इंटरनेशनल या कामिन्टर्न की सदस्यता दे दी गयी थी।

यद्यपि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने संस्थापक और प्रारंभिक सदस्यों में सर्व श्री मानवेन्द्रनाथ राय, मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी, गुलाम हुसैन, अब्बानी मुखर्जी, नलिनी गुप्त आदि के नाम गिनाए हैं, लेकिन सचाई यह है कि उसके संस्थापक या प्रारंभिक सदस्यों में अधिकतर वे कट्टरपंथी-मजहबी मुसलमान थे जो टर्की में खलीफा की हुकूमत खत्म हो जाने की वजह से पवित्र भारत-भूमि को अत्यन्त हिकारत के साथ 'काफिरों की धरती' बताकर अफगानिस्तान के बरास्ते ताशकंद पहुँच गए थे। इस संबंध में मार्शल विंडमिलर ने 'भारत में कम्युनिज्म' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि "स्वदेश छोड़कर गए हुए भारतीयों की फौज खड़ी करके भारत को आजाद कराने के उद्देश्य से राय (मानवेन्द्रनाथ राय) ताशकंद जाने के लिए बेताब थे। ये भारतीय दारुल-इस्लाम से संबंधित खिलाफत आंदोलन के सदस्य थे और उनका उद्देश्य सबिर्स की उस संधि का विरोध करना था जिसने टर्की में खलीफा की हुकूमत को

खत्म कर दिया था।" इसी तरह प्रख्यात विद्वान, लेखक और राजनेता एम० आर० मसानी ने अपनी पुस्तक 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी-एक संक्षिप्त इतिहास' में लिखा है कि "कुछ निर्वासित राजनीतिक कार्यकर्ताओं और घुमवकड़ बुद्धिजीवियों के अलावा जिन प्रारंभिक सदस्यों की भर्ती भारत की कम्युनिस्ट पार्टी में की गई वे ऐसे कट्टरतावादी मतान्ध मुहाजिर मुसलमान थे जिन्होंने १९१६ के अफगान-युद्ध के विरोध में भारत को एक अपवित्र भूमि मानकर उसका परित्याग कर दिया था। यह कहा जाता है कि इनमें से लगभग सौ व्यक्ति ताशकन्द जा पहुँचे थे जहाँ एम० एन०-राय और अन्य कम्युनिस्टों ने उन्हें कम्युनिज्म की दीक्षा दे दी। इसके बाद १९२१-२२ से आरंभ करके उन सभी कट्टरतावादी मुसलमान कम्युनिस्टों को स्थल या जल मार्ग से एक-एक करके या दो-दो के गुटों में भारत भेज दिया गया। इसी सत्य की पुष्टि सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक और इतिहासकार एम्यूरी राइनकोर्ट ने की है। 'भारत की आत्मा' नामक पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि "सोवियत रूस से त्वरित और विपुल सहायता के बिना भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन को आरंभ कर संगठित नहीं किया जा सकता था।"

कमान विदेशी हाथों में

शीघ्र ही मानवेन्द्रनाथ राय और लेनिन में मतभेद प्रकट होने लगे। कुछ ही समय बाद २१ जनवरी, १९२४ को लेनिन की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी जोसेफ स्टालिन से राय की पटरी कभी भी बैठ नहीं सकी। फलस्वरूप एम. एन. राय सन् १९२८ में आयोजित कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की छठी कांग्रेस में शामिल नहीं हुए और उन्होंने स्टालिन-प्रणीत मार्क्सवाद की व्याख्या की बड़ी तीखी आलोचना की। इस पर उन्हें 'कामिन्टर्न' से अलग कर दिया गया और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की कमान ब्रिटिश कम्युनिस्ट नेताओं को सौंप दी गई। पर्सो ई. ग्लैंडिंग, फिलिपिस्प्राट, जार्ज एलिसन, ब्रेंजामिन फ्रांसिस ब्रैडले, ह्यूजलेस्टर हचिनसन, एस. सकलातवाला और रजनी पाम दत्त आदि ऐसे ही ब्रिटिश

कम्युनिस्ट नेता थे जिन्होंने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को पालने पोसने का काम किया। इनमें से एस० सकलातवाला यद्यपि पारसी थे, पर वे लम्बे समय तक ब्रिटेन में रहे थे और कुछ वर्ष के लिए ब्रिटिश संसद के निचले सदन हाउस आफ कामन्स के सदस्य भी रह चुके थे। रजनी पामदत्त मूलतः बंगाली होने के बाद भी ब्रिटेन में जा बसे थे और सन् १९२० में कायम की गई ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्यों में से एक थे। इस तरह भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अपने जन्मकाल से ही भारतीय नहीं थी और न है। वह तो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी न होकर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी है। यही बात मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी और अन्य कम्युनिस्ट गुटों के ऊपर लागू होती है। इस तरह भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का जन्म ही विदेश में नहीं हुआ है बल्कि उसके पालन-पोषण, संवर्धन, विकास और निर्देशन के सूत्र भी विदेशों में रहे हैं।

पहला अधिवेशन

फिर भी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का पहला देशव्यापी अधिवेशन दिसम्बर, १९२५ में कानपुर में हुआ था। इस बीच पार्टी ने देश के छह-सात प्रान्तों में अपना कार्य शुरू कर दिया था और इसलिए पार्टी रिकार्ड के अनुसार इस सम्मेलन में पाँच सौ प्रतिनिधि शामिल हुए थे। सन् १९२० में सुप्रसिद्ध देशभक्त लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कायम की गई अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में शीघ्र ही कम्युनिस्ट सक्रिय हो गए थे। ब्रिटिश कम्युनिस्ट नेताओं के मार्ग-दर्शन में उन्होंने अनेक मजदूर यूनियनों खड़ी की थी। फिर पार्टी की गतिविधियों का संचालन करने के लिए वे सोवियत संघ से पैसा लाए थे। इसके बाद पंजाब में उन्होंने विद्रोहों का सूत्र-संचालन किया और उत्तर-प्रदेश में 'वर्क्स एंड पीजेट्स पार्टी' नाम से हिमायती जमात खड़ी की।

इन गतिविधियों के कारण उत्तरी भारत में कानपुर कम्युनिस्ट गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बनता जा रहा था। उसका पहला देशव्यापी अधिवेशन भी सन् १९२५ में कानपुर में ही आयोजित हुआ था। इससे

एक वर्ष पहले सन् १९२४ में हुए कानपुर षड्यन्त्र केस, से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। इस कांड में श्रीपाद अमृत डांगे, नलिनी गुप्त, मुजफ्फर अहमद और शौकत उस्मानी नामक कम्युनिस्ट बंदी बने थे। इसके पांच वर्ष बाद सन् १९२९ के मेरठ षड्यन्त्र केस' में लगभग दो दर्जन से अधिक कम्युनिस्ट बन्दी हुए जिनमें फिलिप स्प्राट, ब्रैडले, डांगे, एस० बी० धोटे, जोगलेकर, निंबकर, मिरजकर, शौकत उस्मानी और मुजफ्फर अहमद आदि शामिल थे।

डांगे ब्रिटिश एजेंट

इसी दौरान कुछ कम्युनिस्ट नेता ब्रिटिश सरकार के हस्तक या एजेंट बनकर पार्टी में बहुत अधिक सक्रिय थे। इनमें सबसे प्रमुख नाम श्रीपाद अमृत डांगे का था जिन्होंने 'कानपुर षड्यन्त्र केस' में बन्दी किये जाने पर ब्रिटिश सरकार से लिखित अनुरोध किया था कि अगर उन्हें रिहा कर दिया जाए तो वे सरकारी एजेंट के रूप में पार्टी के अन्दर सक्रिय रह कर उसके महत्वपूर्ण गोपनीय प्रस्तावों एवं निर्णयों की जानकारी ब्रिटिश शासकों को देते रहेंगे। अब तो यह सच्चाई सभी जानकार लोगों को पता लग चुकी है कि 'मेरठ षड्यन्त्र केस' में डांगे की भागीदारी इसी योजना के तहत थी और उन्हीं की सूचना पर अंग्रेज सरकार दो दर्जन से अधिक कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं और पार्टी के महत्वपूर्ण नेताओं को बन्दी बनाने में सफल हो सकी थी। इस घटना से अन्य कम्युनिस्ट नेता हतप्रभ हो गये थे। डांगे को अन्य नेताओं के साथ इसलिये बन्दी बना लिया गया था जिससे कि उनके ब्रिटिश एजेंट होने की सच्चाई पर रहस्य का पर्दा पड़ा रहे। डांगे के इस चतुरतापूर्ण व्यवहार के कारण उनके सहयोगी और अनुयायी पार्टी के साथ की जाने वाली उनकी इस गद्दारी का तनिक भी अनुमान न लगा सके और वे पार्टी की शीर्ष नेतृत्व मंडली तक पहुंचने में ही केवल कामयाब नहीं हुए बल्कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष पद पर भी कब्जा कर बैठे। सन् १९६४ में जब उनके ब्रिटिश एजेंट होने से संबंधित उनके पत्र की जानकारी

देश के कम्युनिस्ट नेताओं को मिली उसके बाद ही उन्हें भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन से निकाला जा सका।

सन १९२५ की प्रथम पार्टी कांफ्रेंस के बाद कम्युनिस्ट पार्टी में एम० एन० राय का महत्व निरन्तर गिरता जा रहा था और उसके निर्देशन की पूरी जिम्मेदारी ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को सौंप दी गई थी। स्टालिन और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का यह विश्वास था कि ब्रिटिश कम्युनिस्ट नेता पूंजीवादी-साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार की मनोरचना और कार्य प्रणाली से अधिक अच्छी तरह परिचित होने के कारण उनसे अधिक अच्छे ढंग से निपट सकते थे और उसके सुदक्ष प्रशासन की पकड़ से बचकर भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन को प्रभावशाली रूप से विकसित कर सकने में अधिक सक्षम थे।

कांग्रेस और गांधी जी का विरोध

इस दौरान कामिन्टर्न और ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के रजनी पाम दत्त और बेंजामिन फ्रांसिस ब्रैडले आदि का विचार इस देश की राष्ट्रीय मुख्य धारा और कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रहते हुए कम्युनिस्टों के अपने बल-बूते पर किसान और मजदूरों को संगठित करते हुए एक प्रबल जन-शक्ति बन जाना था। सन १९२८ के छठे अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट सम्मेलन ने भी उन्हें यही दिशा-निर्देश किया था। अतः रजनी पाम दत्त के निर्देश पर कम्युनिस्टों ने कांग्रेस का उग्र विरोध करते हुए उसे साम्राज्यवादियों और पूंजीपतियों का एजेंट घोषित कर दिया। इस संबंध में उस समय रजनी पाम दत्त का विश्लेषण यह था कि महात्मा गांधी ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को व्यापक जनधार भले ही उपलब्ध करा दिया हो, गांधी जी वस्तुतः भारतीय बुर्जुआ वर्ग के नेता हैं। इसलिये उस बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक हित गांधी जी को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ हाथ मिलाने को विवश कर देंगे।

अंग्रेज पूंजीपतियों के हितों की वकालत

किन्तु भारत के कम्युनिस्टों को इस देश के मजदूर और कामगार

जनता के हितों की चिन्ता कितनी अधिक थी इसका पता इस दौरान उनके द्वारा अपनायी गयी नीतियों से सरलता के साथ स्पष्ट हो जाता है। उस शताब्दी के आरम्भिक समय से ही लोकमान्य तिलक ने स्वदेशी आन्दोलन चलाकर देशवासियों से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का कार्यक्रम प्रभावशाली ढंग से छेड़ रखा था। सन् १९२० में गांधी जी ने कांग्रेस का नेतृत्व संभालने के बाद चरखे से बनायी जाने वाली खादी के प्रयोग पर बहुत अधिक बल देकर इस स्वदेशी आन्दोलन को गाँव-गाँव तक पहुंचा दिया था। चरखे से स्वयं नियमित रूप से सूत कातना उनकी दिनचर्या और कांग्रेस के निर्धारित कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण भाग था। कहना न होगा कि इस तरह जब गांधी जी के नेतृत्व में देशवासी विदेशी-वस्तुओं और वस्त्रों का बहिष्कार करते हुए भारत के गरीब जुलाहों, बुनकरों, तथा मेहनतकश जनता की रोजी-रोटी सुरक्षित करने का आन्दोलन चला रहे थे तब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी विदेशी वस्त्रों को लोकप्रिय बनाने के लिये आन्दोलन कर रही थी। उनका तर्क था कि यदि विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया गया तो ब्रिटेन की लंकाशायर और मैनचेस्टर स्थित कपड़ा मिलों में काम करने वाले हजारों मजदूरों की रोजी-रोजी के लिये गम्भीर संकट खड़ा हो जाएगा। इस संबंध में यह तथ्य ध्यान रखना चाहिये कि उस समय ब्रिटेन की इन मिलों में तैयार कपड़े की बिक्री की सबसे बड़ी मंडी भारत था। इस तरह दत्त और ब्रैडले के निर्देश पर भारत के कम्युनिस्ट ब्रिटेन के मजदूरों की रोजी-रोजी के लिए तो बहुत अधिक चिन्तित थे लेकिन उन्हें भारत की मेहनतकश जनता और कामगारों की रोजी-रोजी तथा हितों की तनिक भी चिन्ता नहीं थी। संभवतः इस नीति को अपनाने के पीछे दत्त और ब्रैडले को ब्रिटेन के मजदूर वर्ग में अपने नेतृत्व को लोकप्रिय और प्रभावशाली बनाने की अधिक चिन्ता सता रही होगी ! पर इससे कम्युनिस्टों के भारत के मजदूरों के मसीहा बनने के दावे का खोखलापन तो प्रकट हो ही जाता है।

कांग्रेस के साथ सहयोग की कोशिश

कम्युनिस्टों के इस कारनामे ने उन्हें भारत की जनता में अत्यधिक

अलोकप्रिय बना दिया। यहाँ तक कि मजदूर क्षेत्र में भी उनकी लोकप्रियता में बराबर गिरावट आती चली गई। इसी बीच यूरोप में हिटलर और मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवाद और नाजीवाद का उदय होने लगा। भारत में कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन और १९३०-३२ के दौरान चलाये गये सविनय अवज्ञा आंदोलन का विरोध कम्युनिस्टों को बहुत सँहगा सिद्ध हुआ। अतः १९३५ के अन्दर कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के सातवें सम्मेलन ने भारत के कम्युनिस्टों को कांग्रेस के साथ गठजोड़ कर संयुक्त मोर्चा बनाने का निर्देश दिया। उसके पूर्व कम्युनिस्टों द्वारा देशव्यापी कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल कराने की कोशिशों के कारण सन १९३४ में ब्रिटिश सरकार ने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को अवैध घोषित कर दिया था। अतः कांग्रेस के साथ सहयोग करना कम्युनिस्टों की राजनीतिक मजबूरी भी उस समय बन गई थी।

कब्जा करने की कोशिश

कांग्रेस में प्रवेश कर संयुक्त मोर्चा बनाने के लिये कम्युनिस्टों ने कांग्रेस के अन्दर क्रियाशील कांग्रेस समाजवादी दल में शामिल होने का निश्चय किया। सन १९३४ में आचार्य नरेन्द्र देव के नेतृत्व में गठित इस पार्टी को भी कांग्रेस में अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाने के लिये उनकी आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप उन्हें कांग्रेस समाजवादी दल में शामिल कर लिया गया।

किन्तु कांग्रेस समाजवादी दल के माध्यम से कांग्रेस में शामिल होने की कम्युनिस्ट रणनीति अत्यधिक सुनियोजित थी। वे निचले स्तर के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को कांग्रेस नेतृत्व से दूर ले जाकर उन्हें अपने प्रभाव में लाने, राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस की भूमिका का महत्व घटाने, कांग्रेस संगठन का अपने गृहित उद्देश्यों के लिये उपयोग करने और अन्ततः कांग्रेस संगठन को हजम कर जाने की योजना लेकर कांग्रेस में घुसे थे। इसी तरह सन् १९३६ में प्रोफेसर एन० जी० रंगा और स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा कायम की गई अखिल भारतीय किसान सभा में भी उन्होंने घुसपैठ

कर ली थी और शीघ्र ही उस पर अपना नियन्त्रण कायम कर लिया था ।

सातवें कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में संयुक्त मोर्चे बनाने की व्यूह रचना को मंजूर करते समय सोवियत संघ के कम्युनिस्ट नेताओं को यह विश्वास था कि इससे वे यूरोप के समाजवादी आंदोलन तथा पश्चिमी देशों द्वारा शासित देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों पर अपना कब्जा कायम कर लेने में शीघ्र ही सफल हो जाएंगे । इस तरह उनकी इस नीति का उद्देश्य महाभारत युद्ध के बाद क्रुद्ध धृतराष्ट्र द्वारा भीम को आलिंगनबद्ध करने के समान था । किन्तु जैसे उस समय योगिराज कृष्ण की दूरदर्शिता से धृतराष्ट्र की वह योजना सफल नहीं हो सकी थी उसी भांति कांग्रेस समाजवादी दल के नेताओं को कम्युनिस्टों के गर्हित इरादों की पूरी जानकारी प्राप्त हो गयी थी । इसके अतिरिक्त लाला लाजपतराय के नेतृत्व में कायम किये गये अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस नामक मजदूर संगठन पर कम्युनिस्टों के अधिकार कर लेने की बात वे भूले नहीं थे । इसी बीच भारत के कम्युनिस्ट नेताओं द्वारा कांग्रेस समाजवादी दल को हजम कर जाने वाली कुख्यात योजना से संबंधित कुछ कागजात सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता जय-प्रकाश नारायण के हाथ लग गये । अतः सन् १९३६ में एक सार्वजनिक वक्तव्य देकर उन्होंने भारत के कम्युनिस्टों को विश्वासघाती और कांग्रेस समाजवादी दल तथा कांग्रेस का प्रमुख शत्रु घोषित कर दिया । इससे कांग्रेस नेताओं के कान भी खड़े हो गये और जब मार्च १९४० में कांग्रेस समाजवादी दल ने कम्युनिस्टों को कांग्रेस से निकालने का एक प्रस्ताव पारित किया तब कांग्रेस नेतृत्व द्वारा उसका स्वागत किया गया । इस घटना पर रोष व्यक्त करने के लिये कम्युनिस्टों ने देश के सभी प्रमुख उद्योगों में कार्यरत मजदूरों की व्यापक हड़ताल कराने की चेष्टा की । लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिल सकी ।

युद्ध के दौरान पंचमांगी बने

इसी बीच ३ सितम्बर, १९३६ को दूसरा महायुद्ध छिड़ चुका था ।

पर सोवियत संघ अगस्त १९३६ की रिबनट्राप मोलोटोव संधि से बंधा होने के कारण जर्मनी का मित्र था। अतः सोवियत संघ इस युद्ध को 'साम्राज्यवादी युद्ध' कहकर उसका विरोध कर रहा था। इसी आधार पर भारत के कम्युनिस्ट भी युद्ध-विरोधी थे। उन दिनों उनका सुप्रसिद्ध गीत था।

“जर्मन और अंग्रेज लड़ रहे, राज करने की खातिर ॥

हिन्दुस्तानी कोई मत जइयो, वहाँ मरने की खतिर ॥”

लेकिन जब जून, १९४१ में नाजी जर्मनी की सेनाओं ने सोवियत भूमि पर अचानक हमला बोल दिया तब सोवियत संघ के तानाशाह नेता मार्शल स्टालिन पूंजीवादी ब्रिटेन के विन्स्टन चर्चिल की शरण में जाकर इस युद्ध को 'जनवादी युद्ध' कहने लगे। इन हालातों में भारत के कम्युनिस्टों को भी गिरगिट की तरह रंग बदलना जरूरी हो गया। ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता जार्ज एलिसन फिलिप स्प्राट बेंजामिन फ्रांसिस ब्रैडले हैरी पालिट और रजनी पाम दत्त ने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को यह निर्देश दिया कि वे युद्ध के दौरान अंग्रेज शासन की पूरी सहायता करें। यहाँ तक कि उस समय ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव हैरी पालिट ने इस विषय पर एक अधिकृत पत्र भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन महासचिव पी० सी० जोशी को भेजकर उपर्युक्त निर्देश की अधिकृत रूप में पुष्टि कर दी। ब्रिटेन की दशा भी इस समय अत्यन्त नाजुक थी। वह अपने-आपको अकेला अनुभव कर रहा था। फ्रांस तो १८ जून, १९४० को ही जर्मन सेनाओं के सामने आत्मसमर्पण कर चुका था। प्रायः सम्पूर्ण यूरोप हिटलर और मुसोलिनी की सेनाओं के कठोर शिकंजे में जकड़ा जा चुका था। सुदूर पूर्व में जापान लगातार आगे बढ़ रहा था। उसका अग्रिम लक्ष्य भारत था। इस समय तक जापानी फौजों ने अमेरिका के पर्ल हारबर के ऊपर हमला नहीं किया था। अतः वह ब्रिटेन को बड़े पैमाने पर शस्त्रास्त्र और धन उपलब्ध कराने के बावजूद स्वयं सीधे

युद्ध में शामिल नहीं हुआ था। उधर कांग्रेस देश में अंग्रेज सरकार के विरुद्ध सक्रिय हो रही थी। उसके द्वारा गठित विभिन्न प्रान्तों के मन्त्रिमंडलों ने अंग्रेज वायसराय और गवर्नर जनरल की युद्ध-नीति के विरोध में अपने त्यागपत्र दे दिये थे, उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ कर रखा था। उधर सुभाषचन्द्र बसु ने विदेशों में जाकर आजाद हिन्द फौज की कमान सँभाल ली थी। उनके नेतृत्व में भारतीय सैनिक मातृभूमि की मुक्ति हेतु आगे बढ़ते आ रहे थे। अतः भारत के कम्युनिस्टों के द्वारा बढ़ाये गये सहयोग के हाथ को अंग्रेज सरकार कैसे ठुकरा सकती थी ? उसने कामरेडों द्वारा बढ़ाये गए सहयोगी हाथ को थामकर उनका स्वागत किया उसके नेताओं और कार्यकर्ताओं को जेलों से रिहा कर दिया गया और राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते हुये ज्वार को रोकने के लिये ब्रिटिश सरकार ने उनका प्रयोग पंचमांगियों के अग्रगामी दस्ते के रूप में करने की नीति अपनाई।

पीठ में छुरा भोंका

इस समय तक कम्युनिस्टों ने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर पूरी तरह अधिकार कर लिया था अंग्रेज सरकार यह चाहती थी कि भारत के औद्योगिक उत्पादन की गाड़ी चलते रहने के साथ ही और तीव्र गति पकड़ ले। अर्थात् उत्पादन में बढ़ोत्तरी हो जिससे युद्ध-काल के दौरान आवश्यक रसद और अनिवार्य वस्तुओं की प्राप्ति उसे होती रहे। अतः उसने भारत के कम्युनिस्टों को सभी तरह की सुविधाएँ देना शुरू कर दिया। प्रत्युत्तर में भारतीय कम्युनिस्टों ने औद्योगिक पंक्ति पर सहयोग करते हुये जिस तरह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सहायता की उसका वर्णन करते हुये एम० आर० मसानी ने लिखा है कि “औद्योगिक मोर्चे पर अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में अपने पूर्ण प्रभुत्व का लाभ उठाते हुये भारत के कम्युनिस्टों ने श्रमिकों को राष्ट्रीय आंदोलन से तो दूर रखा ही, बल्कि जहां वे पहले मजदूरों के शोषण के विरुद्ध प्रतिदिन

हड़ताल पर आमादा हो जाते थे अब गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने लगे कि

रात-दिन करो तुम काम । हड़ताल का न लो अब तुम नाम ॥

अखिल भारतीय किसान-सभा पर अधिकार जमाए हुये कामरेडों ने इसी तर्ज पर अब किसानों से कहना आरंभ कर दिया कि वे अपनी अभी तक की शिकायतें और कठिनाइयाँ भूल जाएँ तथा अधिक अनाज पैदा कर सेना का पेट भरने के लिये पूरे का पूरा अनाज सरकार को सौंप दें ।

राष्ट्रीय आंदोलन की पीठ में छुरा घोपने की अपनी इसी नीति के तहत कम्युनिस्टों ने नेता जी सुभाष चन्द्र बसु को 'तोजो का कुत्ता, पूंजी-पतियों का दलाल,' आदि कहकर उनका अपमान करना शुरू कर दिया । फिर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव पी० सी० जोशी ने जुलाई, १९४२ में पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा लेने के बदले भारत सरकार के गृहसचिव को पत्र लिखकर अँग्रेजों को सब तरह की सहायता करने का पार्टी का संकल्प दोहराया । भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य रह चुके एस० एस० वाटलीवाला के हवाले से एम० आर० मसानी ने ऊपर उद्धृत की गई अपनी पुस्तक 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी-एक संक्षिप्त इतिहास' में कम्युनिस्टों की राष्ट्रद्रोहिता और अँग्रेजों के चाटुकार बनने का विवरण देते हुए लिखा है कि "उसके बाद वाटलीवाला ने कहा कि उन्होंने ऐसे पत्र-व्यवहार की गोपनीय फाइल देखी है जो १९४२, १९४३ और १९४४ के काल में पार्टी के महासचिव पी० सी० जोशी और ब्रिटिश भारत सरकार के गृह संबंधी मामलों के प्रमुख होम मेम्बर सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल के बीच हुआ था ।" वाटलीवाला ने कहा कि अगर पत्र-व्यवहार प्रकाशित कर दिया जाये तो निश्चित रूप से यह सिद्ध हो जायेगा कि कम्युनिस्ट पार्टी की पोलित ब्यूरो और भारत सरकार के बीच साँठ-गाँठ थी और उसके अनुसार श्री जोशी अपने दल के सदस्यों की सेवाएँ ब्रिटिश सरकार को समर्पित कर रहे थे । मार्शल बिडमिलर ने इसी सत्य की पुष्टि करते हुये लिखा है कि पी० सी० जोशी के ये पत्र ब्रिटिश

कम्युनिस्ट पार्टी के सचिव हैरी पॉलिट के द्वारा भारत के 'होम मेम्बर' सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल के हाथों में पहुंचाये जाते थे ।

राष्ट्रघाती कार्यवाहियाँ

श्री मसानी का आगे कहना है कि "बाटलीवाला के इस वक्तव्य में यह गंभीर आरोप लगाया गया है कि पी० सी० जोशी ने पार्टी के कुछ सदस्यों को यह निर्देश दिया था कि वे सेना के गुप्तचर विभाग से संपर्क रखें और गुप्तचर विभाग के प्रमुखों को राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं के बारे में अपेक्षित सूचनाएँ दें जो १९४२ के आंदोलन से संबद्ध हों या जो नेता जी सुभाषचन्द्र बसु की आजाद हिन्द सरकार की ओर से भारत आई हों । जोशी ने भारत सरकार को और सेना के मुख्यालयों को 'विना शर्त सहायता देने' का भी प्रस्ताव किया था जिसमें इन स्वतन्त्रता सेनानियों को पकड़वाना भी शामिल था । अपने पत्र में जोशी ने इन लोगों को 'विश्वासघातियों' और 'पंचमांगियों' की श्रेणी में रखा था ।" जबकि सचाई यह है कि जोशी और उनके कामरेड मित्र स्वतः विश्वासघाती और पंचमांगी कार्यवाहियों में पूरी तरह डूबे हुये थे ।

भारत-छोड़ो आन्दोलन के दौरान जब सम्पूर्ण देश अंग्रेजों के शासन को इस देश से समाप्त कर देने के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर रहा था उस समय भारत की कम्युनिस्ट पार्टी सोवियत संघ के इशारे पर अंग्रेजों की चाटुकारिता करने, गांधी और सुभाष चन्द्र बसु को जापान का एजेंट बनाने, भारतीय स्वाधीनता सेनानियों को बन्दी बनवाकर अंग्रेज शासन की जेलों में सड़ने देने की राष्ट्रघाती नीतियों को व्यावहारिक रूप देने में जोर शोर से लगी हुई थी । इस संबंध में यह तथ्य ध्यान रखने योग्य है कि जब कांग्रेस अगस्त १९४२ में अंग्रेजों के विरुद्ध 'भारत-छोड़ो' का उद्घोष करने जा रही थी उस समय २६ जुलाई, १९४२ को भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस कार्य समिति के नाम कम्युनिस्टों की एक खुली चिट्ठी प्रकाशित की थी । इसमें कहा गया था कि "आपके प्रस्तावित अगस्त-प्रस्ताव के द्वारा संघर्ष छेड़ने से अंग्रेज नौकरशाहों को भारतीय राष्ट्रीय

आंदोलन को 'पंचमांगी' कहकर बदनाम करने का अवसर मिलेगा। आपका प्रस्तावित भारत-छोड़ो संघर्ष फासिस्ट जापानियों को देश के भीतर आने में सहायता पहुंचाएगा।" इसी तरह नेताजी सुभाषचन्द्र बसु की अवमानना और अवज्ञा करते हुए कम्युनिस्टों ने लिखा कि "आखिर जापान-समर्थक भावना किन लोगों में पैदा हुई थी? उन्हीं लोगों में जिनमें आत्म-विश्वास नहीं था और जो जापानियों से यह आशा करते थे कि वे अंग्रेजों को इस देश से निकालकर सम्पूर्ण हिन्दुस्थान उन्हें सौंप देंगे।" क्या कम्युनिस्टों का यह दुष्प्रचार किसी राष्ट्रघाती कार्यवाही से कम था। संसार में प्रत्येक देश के इतिहास में यह तथ्य हमें दिखायी देता है कि अपने शत्रु या विदेशी शासन की कठिनाइयों और मुसीबतों का लाभ उठाकर पराधीन देश गुलामी के जुए को उतार फेंके। अतः यदि गांधी जी और सुभाषचन्द्र बसु उसी पवित्र राष्ट्रीय कार्य में लगे हुए थे तब उसमें अनुचित क्या था? पहले महायुद्ध के दौरान भी लाला हरदयाल सरीखे अनेक राष्ट्रभक्त नेताओं ने अंग्रेज शासन की विवशता का लाभ उठाकर देश की स्वतन्त्रता के लिये अनथक प्रयास किये थे और विदेशों से सहायता भी प्राप्त की थी। किन्तु उन्हें कभी किसी ने, यहां तक कि भारत के कम्युनिस्टों ने भी पंचमांगी कहने का दुस्साहस नहीं किया। लेकिन यह मिथ्या दोषारोपण सोवियत संघ के हस्तक बने हुए ये कम्युनिस्ट गांधी और सुभाष जैसे प्रथम श्रेणी के राष्ट्र समर्पित नेताओं के विरुद्ध कर रहे थे। जिन सुभाषचन्द्र बसु ने अपने जीवन को दांव पर लगाकर गुप्त रूप या छद्म वेश में देश से बाहर जाकर सुप्रसिद्ध राष्ट्र नेता रासबिहारी बोस से आजाद हिन्द फौज की कमान संभालकर देश को सशस्त्र संघर्ष द्वारा मुक्ति दिलाने में अपने जीवन-सर्वस्व की बाजी लगा दी उन राष्ट्र नेता को ये रूसी एजेंट आत्मविश्वास से शून्य बताने की हिमाकत कर रहे थे। उनका अपना हाल तो यह था कि उन्होंने अंग्रेजों से कम्युनिस्ट पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटवाने के बदले अखिल भारतीय किसान सभा और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को ही अंग्रेजी साम्राज्य का रक्षक और हस्तक नहीं बना दिया था बल्कि अखिल भारतीय

छात्र संघ का भी यही हथ्र किया था । अखिल भारतीय महिला सम्मेलन में अपना प्रभाव बढ़ाकर उसे भी उसी राष्ट्रघाती-पंचमांगी मार्ग पर ले जाने के प्रयास में वे लगे हुए थे और केरल के अन्दर ए० के० गोपालन और ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद जैसे नेता संकट की उस घड़ी में कांग्रेस को तिलांजलि देकर संपूर्ण दल-बल के साथ कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये थे । इसीलिये कम्युनिस्टों की इन राष्ट्रघाती कारगुजारियों पर टिप्पणी करते हुए अक्टूबर १९४५ में पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि “जब देश के हित के लिये लाखों भारतीयों ने अपना सर्वस्व दाँव पर लगा दिया था, उस समय कम्युनिस्ट देश के शत्रुओं से जा मिले थे जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता ।”

पाकिस्तान की माँग का समर्थन

सन १९४२ में भारत-छोड़ो आंदोलन शुरू होने से पहले देश में ब्रिटिश सरकार ने ‘क्रिप्स मिशन’ भेजा था । यह मिशन एक ऐसी ‘क्रिप्स योजना’ लेकर आया था जिसमें देश-विभाजन के बीज छिपे हुए थे । फलतः गाँधी जी ने उसे अस्वीकार कर दिया । लेकिन कम्युनिस्टों को उसमें कोई आपत्तिजनक बात दिखाई नहीं दी । दिखती भी कैसे ? वे तो भारत को सांस्कृतिक आधार पर एक इकाई या राष्ट्र मानने के लिये कतई तैयार नहीं थे । उनकी सोच तो यह थी कि अंग्रेजों के आने के बाद ही इस देश में राजनीतिक एकता कायम हुई है, फिर भी इस देश में अनेक राष्ट्र मौजूद हैं । मई, १९४१ में एक परिपक्व निकालकर उन्होंने भारत में बहुराष्ट्रीय कल्पना की खुली घोषणा की थी । इसका मुख्य प्रयोजन मार्च, १९४० में मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में पास किये गये उस राष्ट्रघातक प्रस्ताव की वकालत करनी थी जिसमें पाकिस्तान का नाम न लेते हुये भी मुसलमानों के लिये एक पृथक होमलैंड की माँग की गयी थी । इसके बाद सितम्बर १९४२ में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने अधिकृत रूप से एक प्रस्ताव पास किया था । जिसका विवरण मार्शल विंडमिलर ने अपनी पूर्व उद्धृत पुस्तक ‘भारत में कम्युनिज्म’ के पृष्ठ ४६३ पर दिया

है। उक्त प्रस्ताव में घोषणा की गयी थी कि “भारत की जनता का प्रत्येक भाग जिसका अपना साथ-साथ लगा हुआ होमलैंड, समान ऐतिहासिक परंपरा, समान भाषा, समान संस्कृति, समान मनोवैज्ञानिक चिन्तन और समान आर्थिक रहन-सहन है, उसे एक पृथक् राष्ट्रीयता के रूप में मान्य किया जायेगा। उसे अधिकार होगा कि वह स्वतन्त्र भारत में संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत एक स्वायत्त राज्य के रूप में रहे या वह चाहे तो अपने अलग हो जाने के अधिकार का उपयोग करे। इस प्रकार आने वाले कल का स्वतन्त्र भारत विभिन्न राष्ट्रीयताओं के स्वायत्त राज्यों का संघ होगा जिसमें पठान, पश्चिमी पंजाब (अधिकांशतः मुसलमान), सिख, सिंधी, हिन्दुस्थानी, राजस्थानी, गुजराती, बंगाली, असमी, बिहारी, उड़िया, तेलगू (आंध्र); तमिल, कन्नडिग (कर्नाटक), महाराष्ट्रीय, मलयाली आदि स्वायत्त राज्य होंगे।” इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कम्युनिस्टों की नजर में हिन्दुस्थानी तो केवल उत्तर प्रदेश के अन्दर रहने वाले लोग हैं, शेष देश के लोग हिन्दुस्थानी नहीं हैं। इसी तरह भारत के कम्युनिस्टों की नजर में पंजाब के अन्दर रहने वाले हिन्दुओं का कोई अस्तित्व ही नहीं था।

बहुराष्ट्रीयता का अनर्गल प्रलाप

इसके बाद उसी प्रस्ताव में यह घोषणा भी की गई थी कि “भारत एक सुसंगठित राष्ट्र नहीं है, वह तो विभिन्न राष्ट्रीयताओं के समूहों से मिलकर बना एक भारतीय संघ है। अतः इन राष्ट्रीयताओं को उस संघ से अलग होने का अधिकार है।” इसी तरह कम्युनिस्टों ने साफ-साफ शब्दों में यहाँ तक कहना शुरू किया कि “लाहौर प्रस्ताव में मुस्लिम लीग का जो ध्येय बताया गया है, उसका हम समर्थन करते हैं क्योंकि उसमें मुसलमानों को अपने प्रबल बहुमत वाले इलाकों में अपना स्वतन्त्र राज्य बनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा गया है। यह माँग न्यायोचित है।”

लीग के समर्थन में इतना स्पष्टीकरण देकर ही कामरेड चुप नहीं

हो गए। उन्होंने आगे यह भी स्पष्ट किया कि जिस तरह हम यह नहीं चाहते कि अंग्रेजों का हमारे देश पर अधिकार रहे, उसी तरह हम यह भी नहीं चाहते कि भारत में मुस्लिम इलाकों पर हिन्दुओं का प्रभुत्व रहे। यद्यपि हिन्दुओं का इस देश में बहुमत है परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उन्हें मुस्लिम इलाकों पर भी राज्य करने का हक मिल गया है।” १५ अक्टूबर, १९४४ के अपने मुखपत्र ‘पीपुल्स वार’ में कम्युनिस्टों ने यह भी घोषित कर दिया कि “पाकिस्तान सम्बन्धी माँग का तर्कसंगत औचित्य इस बात में है कि जब कभी मुस्लिम पंथ के लोग एक साथ एक प्रादेशिक इकाई में रहते हैं तब वे भारत में निवास कर रही अन्य बंगाली, तमिल, तेलगू (आंध्र) और कन्नड़ राष्ट्रीयताओं की तरह ही एक स्वतन्त्र पृथक् राष्ट्रीयता वाला समूह बन जाते हैं। इसी आधार पर उन्हें अपना एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य कायम करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।” भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य सज्जाद जहीर ने तो कांग्रेस नेतृत्व की तीखी आलोचना करते हुए एक वक्तव्य में स्पष्ट किया कि “कांग्रेस का नेतृत्व मुस्लिम लीग के साम्राज्यवाद-विरोधी और स्वाधीनता-प्रेमी भूमिका को इस लिये मानने को तैयार नहीं हैं क्योंकि उसने पाकिस्तान की माँग कर रखी है।”

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सन १९०६ में अपने जन्म-काल से लेकर १४ अगस्त, १९४७ को पाकिस्तान के कायम होने के दिन तक मुस्लिम लीग ने कभी भी न तो साम्राज्यवाद या साम्राज्यवादी शक्तियों का विरोध किया था और न ही देश की आजादी की माँग की थी। उसका तो जन्म ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कुत्सित योजना के तहत हुआ था और उसकी दया और कृपा ने ही उसका पालन-पोषण किया था। दूसरे महायुद्ध के दौरान तो मुस्लिम लीग और उसके सर्वप्रमुख नेता मुहम्मद अली जिन्ना कम्युनिस्टों की ही तरह अंग्रेजों के पिट्टू बने हुए थे। कांग्रेस द्वारा देश की स्वाधीनता सम्बन्धी माँग का तो उन्होंने सदैव विरोध किया था और सार्च, १९४० से मुसलमानों के अलग होमलैंड की माँग भी

मुस्लिम लीग और जिन्ना ने इस देश से अँग्रेज का शासन समाप्त न होने देने के लिये एक प्रतिरोधक व्यूह रचना के रूप में की थी।

भारत के कम्युनिस्ट इन तथ्यों की जानकारी न रखते हों, ऐसी बात नहीं थी। सन १९४० के अन्त तक तो वे मुस्लिम लीग को 'प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक संगठन' बताकर उसकी निन्दा इसलिये करते रहे थे क्योंकि उस समय तक सोवियत प्रवक्ता मुस्लिम लीग को अत्यन्त हिंकारत की नजर से देखते थे और भारत को हिन्दू तथा मुसलमान राष्ट्रों में विभाजित करने की उसकी माँग को 'राजनीतिक दिवालियापन तथा प्रतिक्रियावादी वताकर उसकी निन्दा करते थे। यहाँ तक कि दिसम्बर, १९४० में डायकोव और ब्रूयेविच नामक दो रूसी प्रवक्ताओं ने एक लेख लिखकर भारत के स्वाधीनता मोर्चे में मुस्लिम लीग द्वारा दरार डालने के उसके प्रयासों की कठोरतम शब्दों में भर्त्सना की थी। मार्शल बिडमिलर का कहना है कि १९४० के अन्त में ही सोवियत संघ का दृष्टिकोण जर्मनी और दूसरे महायुद्ध के प्रति बदलना शुरू हो गया था। इसका कारण यह है कि सोलोदोव-रिखनद्रा संधि का लाभ उठाकर सोवियत संघ इस समय तक लटविया, लिथुआनिया, और एस्टोनिया को हजम कर चुका था और अब वह हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी की युद्ध मोर्चों पर होने वाली लगातार विजयों से गंभीर रूप में चिन्तित हो उठा था। स्टालिन को यह भय था कि संपूर्ण यूरोप को अपने अधिकार में कर लेने में सफल हो जाने के बाद नाजी जर्मनी उसके लिये सबसे अधिक गंभीर खतरा बन जायेगा। फिर उसने यह देख और समझ लिया था कि ३ सितम्बर, १९३९ को पोलैंड पर नाजी जर्मनी का हमला होते ही ब्रिटेन ने उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी यद्यपि पोलैंड तो उससे बहुत दूर जर्मनी के पूर्व में स्थित था। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप में असामान्य रूप से शक्ति-संतुलन को अपने अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव एवं गरिमा के लिये घातक समझकर ही ब्रिटेन ने युद्ध की पूरी तैयारी न होते हुए भी महायुद्ध का खतरा उठाना स्वीकार कर लिया था। इन हालातों में स्टालिन को यह विश्वास हो गया था कि नाजी जर्मनी

अगस्त, १९३६ को मोलोटोव-रिबनट्राप मैत्री एवं अनाक्रमण संधि को नामंजूर करते हुये किसी भी समय सोवियत संघ पर आक्रमण कर सकता है। अतः संभावित मित्रों की खोज की दृष्टि से अँग्रेजों को टटोलने के लिये सन् १९४० के अन्त और १९४१ के शुरू में ही सोवियत संघ के निर्देश पर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने मुस्लिम लीग के पृथक होमलैंड संबंधी माँग की वकालत करना और भारत को बहुराष्ट्रीय राज्य घोषित करने पर अत्यधिक बल देना आरम्भ कर दिया था जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

विभाजन का खुला समर्थन

फलस्वरूप मुस्लिम लीग का मनोबल बढ़ाने के साथ-साथ उसका विश्वास संपादन करने की दृष्टि से भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव पी० सी० जोशी ने जोर-शोर से यह कहना शुरू कर दिया कि मुस्लिम लीग को प्रतिक्रियावादी बताकर उसकी उपेक्षा गलत और अयथार्थवादी है। वह तो “देश के दूसरे सर्वाधिक संख्या वाले सम्प्रदाय की सर्वाधिक शक्तिशाली राजनीतिक संस्था है।” उन्होंने कांग्रेस को मुस्लिम लीग की देश के बँटवारे की माँग को साहस के साथ मान लेने तक का सुझाव दे डाला।

कूटनीतिक वाग्जाल में निपुण अँग्रेजों ने वक्त की नजाकत को पहचानकर मास्को-स्थित अपने अत्यधिक कुशल राजदूत सर स्टैफर्ड क्रिप्स को मार्शल स्टालिन से भेंट कर हवा का रुख पहचानने का निर्देश दिया। क्रिप्स द्वारा स्टालिन से भेंट और लम्बी वार्ताओं के दौर से हिटलर के कान खड़े हो गए और उसने तनिक भी समय न गँवाते हुये अपनी सेनाओं द्वारा जून, १९४१ में सोवियत संघ पर सीधे हमला कर दिया। अब यूरोप में पूँजीवादी ब्रिटेन और मार्क्सवादी सोवियत संघ एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बन गये और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अँग्रेज प्रशासन का हस्तक बनी तब उसने उनके द्वारा पालित-पोषित मुस्लिम लीग से प्यार की गहरी पेंग बढ़ाते हुये अपने मुखपत्र ‘पीपुल्स वार’

के संपादकीय में यह लिख डाला कि “अल्पसंख्यक मुसलमानों के दिलों में छिपे हुए डर को तब तक दूर नहीं किया जा सकता जब तक उन्हें एक स्वतन्त्र और सार्वभौम राज्य बनाने का अधिकार नहीं दे दिया जाता।” अब मुसलमानों के दिलों से इस डर को निकाल बाहर करने के लिये भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने मुसलमान सदस्यों को यहाँ तक निर्देश दे दिये कि वे “मुस्लिम लीग के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मुद्दूढ़ बनाने के लिये उसमें शामिल हो जाएँ और जिन्ना तथा उसके सहयोगियों के हाथ मजबूत करें।”

अलग मोपलिस्तान का राग

यही नहीं, कम्युनिस्टों ने केरल के मलावार क्षेत्र में अलग से एक मोपलिस्तान के निर्माण की माँग का भी समर्थन करना शुरू कर दिया और कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव पी० सी० जोशी ने मुस्लिम लीग को खुश करने के लिए संयुक्त बंगाल का समर्थन भी शुरू कर दिया। उद्देश्य यह था कि हिन्दू-बहुल पश्चिमी बंगाल भी सदा सर्वदा के लिये मुस्लिम लीग के शासन के अन्तर्गत आकर उसका गुलाम बन जाए।

अतः सुप्रसिद्ध विचारक एवं अर्थशास्त्री डा० जे० डी. सेठी का यह कहना पूरी तरह सही है कि “भारत के कम्युनिस्टों ने इस देश के साथ विश्वासघात करके पाकिस्तान के सिद्धान्त को बौद्धिक औचित्य प्रदान किया था। मुस्लिम लीग में ऐसा एक भी बुद्धिवादी समूह या बुद्धिजीवी व्यक्ति उस समय नहीं था जो उसे एक गरिमा, वैधता और सम्मान दिला पाता। यह सब कम्युनिस्टों ने स्टालिन के उस राष्ट्रीयता सिद्धान्त के नाम पर किया जिसे स्वयं स्टालिन अपने देश में बहुत गहरे रूप में दफन कर चुका था। फिर भी इतिहासकारों में इस बात पर आम सहमति है कि पाकिस्तान की माँग का कम्युनिस्टों द्वारा समर्थन किया जाने के कारण ही उसका डटकर विरोध कर पाना काफी कठिन हो गया था।”

एकता और अखंडता को पलीता

डा० सेठी के इस विश्लेषण की पुष्टि मार्शल विडमिलर की पुस्तक

में वर्णित तथ्यों से भी हो जाती है। सन १९४६ में भारतीय संविधान सभा के चुनाव के मौके पर जनवरी १९४६ में प्रकाशित अपने चुनाव घोषणा-पत्र में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने सन १९४२ में गिनाये गये १६ राष्ट्रीयता समूहों में बलूची राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि कर भारत की राजनीतिक सत्ता १७ संप्रभुता सम्पन्न राष्ट्रीय संविधान सभाओं को सौंपने की खुली मांग की थी। उसका आगे यह भी कहना था कि इन १७ संप्रभुता सम्पन्न राज्यों के पूर्णाधिकारी प्रतिनिधि, जिन्हें तकनीकी भाषा में प्लेनी पोटेंशरी कहा गया था, सम्पूर्ण भारत का एक ढीला-ढाला संघ बनाने का प्रयास करेंगे। इस तरह कम्युनिस्टों की कुत्सित योजना इस देश को अनेकानेक टुकड़ों में बांटकर उसकी एकता, अखंडता और सनातन एकात्मता को नष्ट करने की थी क्योंकि 'प्लेनी पोटेंशरी' या पूर्ण अधिकृत प्रतिनिधि सम्प्रभु राज्यों के बीच होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताओं में भेजे जाते हैं, एक संघ-राज्य की अविभाज्य इकाइयों या प्रदेशों द्वारा नहीं। आश्चर्य तो यह है कि इस तरह की गर्हित राष्ट्रघाती मांग तो इस देश की राष्ट्रीय एकता और अखंडता को फूटी आंख भी न देखने वाली मुस्लिम लीग तक ने नहीं की थी, पर कम्युनिस्ट तो उनसे भी आगे निकलकर राष्ट्र की एकात्मता को पलीता लगाने के लिये सन्नद्ध दिखायी दे रहे थे। सोवियत संघ के सफरमैना और अपने राष्ट्र के साथ गद्दारी करने वाले कम्युनिस्टों के लिये यह सब स्वाभाविक सामान्य व्यवहार जैसा ही था। उसके एक सर्वप्रमुख नेता और अब माकपा के महासचिव ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद ने तो सन् १९६७ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'केरल : कल, आज और कल' में केरल के एक स्वतन्त्र राष्ट्र होने का राग अलापा है। देश की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति में कम्युनिस्टों की भूमिका को समझने के लिये इन तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त गिरगिट की नाई रंग बदलने की कला में कम्युनिस्टों को जवर्दस्त महारत हासिल है।

अध्याय सात

स्वाधीन भारत में कम्युनिस्टों की भूमिका

वहरहाल दूसरी बड़ी लड़ाई के बाद अपनी जर्जर आर्थिक वित्तीय स्थिति और भारतीय सेना में राष्ट्रवाद के उमड़ते प्रबल ज्वार को देखकर ब्रिटेन ने ३ जून १९४७ की माउण्टबेटन योजना के द्वारा भारत को दो खण्डों में बांटना तय कर लिया। फिर भी वह कम्युनिस्टों के १७ राष्ट्रीयताओं वाले सूत्र के भ्रम-जाल में नहीं फंसा क्योंकि युद्ध के बाद आरम्भ हुये शीत युद्ध में ब्रिटेन को न तो सोवियत संघ पर भरोसा था और न ही उसके इशारे पर नाचने वाली भारत की कम्युनिस्ट पार्टी पर। चीन की मुख्यभूमि पर माओ की गुरिल्ला सेनाओं के बढ़ते पगों ने भी ब्रिटेन को कम्युनिस्टों से दूर कर दिया और विश्व-राजनीति में सोवियत संघ को घेरने के उद्देश्य से पाकिस्तान की योजना स्वीकार करना उन्हें सर्वोत्तम उपाय दिखा। परवर्ती घटनाओं ने उनके इस विश्लेषण की पुष्टि कर दी है।

विद्रोह और दमन

इससे भारत के कम्युनिस्टों की हालत बद से बदतर हो गई। जनमानस में बढ़ती घृणा से उसकी सदस्य संख्या बहुत अधिक घट गई। फिर भी यूरोप और एशिया में कम्युनिज्म के बढ़ते पगों से उनके हौंसले बुलन्द बने रहे। अतः फरवरी, १९४८ में पार्टी के दूसरे महासम्मेलन में मास्को के

इशारे पर राष्ट्रीय नेतृत्व की कटु भर्त्सना करते हुए कहा गया कि “वर्जुआ नेतृत्व इस कहानी को लेकर नाच रहा है कि स्वतन्त्रता आ गई है। सचाई यह है कि स्वातन्त्र्य संघर्ष के साथ गम्भीर विश्वासघात हुआ है। राष्ट्र नेताओं ने भूखी, नंगी, दीन जनता की पीठ में छुरा मारकर एक देशघाती समझौता कर लिया है जो लोकतांत्रिक क्रान्ति की समस्त उद्घोषणाओं के साथ विश्वासघात है।”

इस घोषणा के बाद कम्युनिस्टों ने नुरानी हैदराबाद रियासत के आंध्र प्रदेश में सशस्त्र विद्रोह खड़ा कर दिया। वारंगल और नलगोंडा जिले उनके प्रभाव में पूरी तरह आ गए। गृहमंत्री सरदार पटेल ने कम्युनिस्टों के नापाक इरादों को नेस्तनावूद करने के लिए हैदराबाद रियासत के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही करके निजाम से रियासत का विलय भारत में कराया और कम्युनिस्टों के गुरिल्ला युद्ध का कठोरता से दमन कर दिया।

लोकतांत्रिक प्रक्रिया अपनाने की विवशता

साँप छछूंदर की इस गति के बीच पार्टी का नेतृत्व पी० सी० जोशी-बी० टी० रणदिवे के हाथ से निकलकर सी० राजेश्वर राव और अजय घोष के हाथों में आ गया इस बीच कोरियायी-युद्ध और उसमें भारत की स्वतन्त्र भूमिका ने कम्युनिस्टों के इस मिथ्या-प्रचार की कलाई खोल दी कि भारत अभी भी पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियों का गुलाम है। इसी बीच फ्रांस और इटली की कम्युनिस्ट पार्टियों ने संसदीय प्रणाली से अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। अतः उसकी आड़ में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने सन् १९५२ के पहले आम चुनाव में भाग लेकर लोकतांत्रिक प्रक्रिया को अपनाना शुरू किया क्योंकि इसके अलावा उनके सामने और कोई भी मार्ग ही नहीं था।

इस चुनाव में कांग्रेस का कोई प्रबल प्रतिपक्षी दल न होने से कम्युनिस्ट लोकसभा में मान्यता प्राप्त विरोधीदल न होते हुए भी सबसे बड़ा विपक्षी दल थे। पश्चिमी बंगाल, हैदराबाद, मद्रास और ट्रावनकोर-कोचीन की राज्य विधान सभाओं में उसके काफी सदस्य चुने गए। इसी बीच

स्टालिन की मृत्यु के बाद भारत और सोवियत संघ के संबंध मधुर होने लगे। प्रधानमंत्री नेहरू ने तिब्बत पर चीनी कब्जे से शिक्षा न लेते हुए उसके प्रति दोस्ती का हाथ बढ़ाया। प्रत्युत्तर में सोवियत संघ और चीन शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को मानने की घोषणाएँ करने लगे। खुश्चेव ने लोकतांत्रिक तरीकों से समाजवाद लाने का संकल्प व्यक्त किया। फलतः भारत के कम्युनिस्ट भी लोकतन्त्रवादी बनने लगे यद्यपि उनमें नक्सलवादी और अन्य अनेक उग्र एवं अराजक तत्व आज भी मौजूद हैं जो कि हिंसक क्रांति का राग अलापते हैं।

चीनी आक्रमण और भारतीय कम्युनिस्ट

दूसरे आम चुनाव में सत्ता कम्युनिस्ट केरल में आ गए। अगले वर्ष १९५८ की अमृतसर कांग्रेस में उन्होंने संसदीय प्रणाली से समाजवाद लाने की कसमें खाईं। इस बीच चीन के विस्तारवादी इरादे बेनकाब होने लगे, पर कम्युनिस्टों ने उसके विरुद्ध एक शब्द नहीं कहा। २० अक्टूबर, १९६२ को चीन द्वारा भारत पर खुला आक्रमण करके कई हजार वर्ग किलो मीटर भारतीय भूभाग पर उसका अधिकार होने पर भी कम्युनिस्ट रहस्यमय चुप्पी साधे रहे। आगे चलकर जुलाई, १९६४ में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में सोवियत संघ और चीन का दुमछल्ला बनने के आधार पर बँट गई और मूल भाग अपने को 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी' पुकारने लगी।

राष्ट्रद्रोहिता का परिचय

भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन में यह बिखराव उसके नेताओं के व्यक्तित्व संबंधी टकराव और सोवियत संघ अथवा चीन का अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में समर्थन करने के प्रश्न से जुड़ा था। उसका चीनी हमले से कोई सरोकार नहीं था। यही कारण है कि भारत की संप्रभु संसद् द्वारा चीन को हमलावर घोषित कर देश की एक-एक इंच भूमि मुक्ति कराने का संकल्प लेने के बावजूद दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों में से किसी ने भी चीन

को हमलावर घोषित नहीं किया है। उल्टे मई, १९८८ में अपनी राष्ट्रीय परिषद के सामने भाकपा महासचिव सी० राजेश्वरराव ने राष्ट्रद्रोहिता का परिचय देकर कहा था कि “चीनी कम्युनिस्ट नेता भारत और चीन के बीच लम्बे समय से चली आ रही मैकमहोन सीमा-रेखा को मानने के लिए तैयार नहीं हैं, अतः अब तक जो-कुछ हो चुका है उसे हमें भुला देना चाहिए।” इसके बाद उन्होंने यह भी घोषित किया कि “हमारी पार्टी दोनों देशों के बीच मौजूदा नियंत्रण-रेखा के आधार पर आपसी सहमति और ले-देकर उसमें मामूली फेर-बदल करके समझौता करने को तत्पर है।”

कामरेड राजेश्वर राव के इन वक्तव्यों से स्पष्ट है कि राष्ट्र की अखंडता के लिए संप्रभु संसद द्वारा किए गए पवित्र संकल्प की कम्युनिस्टों को चिन्ता नहीं है और वे चीन के सामने घुटने टेकने को तत्पर हैं। उनके इस मन्तव्य की पुष्टि इसके तुरन्त बाद मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने भी कर दी। इसी तरह चारु मजूमदार, कनु सान्याल, नागिरेड्डी, असीमचटर्जी आदि विभिन्न कम्युनिस्ट गुटों के नेता तो गुरु से ही चीन के इशारों पर नाचते रहे हैं। अतः जब कभी ये कामरेड राष्ट्र की एकता और अखंडता की रक्षा के लिए मगरमच्छी आँसू बहाते हैं, उस पर कोई विश्वास नहीं करता।

कम्युनिस्टों की फिरकापरस्ती

इसके अतिरिक्त कम्युनिस्ट पार्टियाँ इस देश में सबसे अधिक फिरकापरस्त राजनीतिक दल हैं। आजादी की लड़ाई के दौरान भारत को बहुराष्ट्रीय राष्ट्र बताकर मुस्लिम लीग की पीठ उन्होंने थपथपायी ही थी। उसी दौरान १६ अगस्त, १९४६ को मुस्लिम लीग की ‘सीधी कार्यवाही’ के अन्तर्गत कलकत्ता और नोआखाली के नरसंहार, ३ सितम्बर, १९४६ को अन्तरिम सरकार के गठन के समय नेहरू-पटेल सहित सभी प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं को एक साथ उड़ाने के लीगी पड़यंत्र, देश-विभाजन के दौरान लाखों, करोड़ों केशधारी और गैर केशधारी हिन्दुओं के पाकिस्तान

से खदेड़े जाने, माँ वहनों का सतीत्व लूटने, जवरन मजहब परिवर्तन कराने आदि पर ये कामरेड मौन रहे। लेकिन जब राष्ट्रद्रोही गतिविधियों का सरदार पटेल ने दमन शुरू किया तब इनकी नींद टूट गयी और ये उन्हें फिरकापरस्त बताकर उनकी निन्दा करने लगे। पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान से आने वाले बन्धुओं के लिए इनकी ममता नहीं जग सकी, फिर उनके पुनर्वास में सहायक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हालाँकि देश विभाजन से पहले पाकिस्तान के समर्थन में भारतीय कामरेड कहा करते थे कि “आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर कायम होने वाला पाकिस्तान एक जनवादी राज्य होगा जिसमें सरकार का मजहब से कोई संबंध नहीं होगा।” पर इसके विपरीत हिन्दुओं का कत्ले आम देखकर भी कामरेड चुप्पी साधे रहे। उनकी नींद तो तब खुली जब पाकिस्तान अमेरिकी नेतृत्व वाली सैनिक संधियों में शामिल हो गया।

कम्युनिस्टों के इस दोगले चरित्र की कहानी बड़ी लम्बी है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि “यानि आफत है लेकिन नाम खिलाफत है” वाले खिलाफत आंदोलन के बाद जब केरल के मोपलाओं ने हिन्दुओं पर कहर बरपा तब तो कामरेड चुप बैठे रहे। अंग्रेज शासन द्वारा उनको नियंत्रण में लाने की बात का उन्हें इतना अधिक ध्यान रहा कि ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद ने मुख्यमंत्री बनते ही इन मोपलाओं को स्वतंत्रता सेनानी घोषित करके पेंशनें दी। मुस्लिम लीग को सत्ता में भागीदार बनाया। उन्हें महत्वपूर्ण मंत्रालय सौंपे और मल्लापुरम का मुस्लिम बहुल जिला बनाया।

इस नीति के तहत आज केरल में २००० से अधिक अरबी स्कूल और बीस से अधिक अरबी कालेज हैं। इनमें ६००० से अधिक मुसलमान अरबी भाषा के शिक्षक हैं। प्रदेश के विद्यालयों में प्रत्येक शुक्रवार को नमाज के लिये दिन में दो घंटे की छुट्टी होती है। ५० प्रतिशत से अधिक मुस्लिम विद्यार्थी वाले सरकारी विद्यालयों और मुसलमान प्रबंधकों द्वारा संचालित विद्यालयों में मुस्लिम कैलेंडर चलता है। कालीकट विश्वाविद्यालय में

तो अलीगढ़ को मात देकर चतुर्थ श्रेणी के सभी कमचारी मुसलमान नियुक्त होते हैं। कुछ समय पहले तक कुलपति भी मुसलमान होता था। इस्लामी मजहब के अध्ययन के लिए वहाँ एक विशेष पीठ बनाई गई है। पंथ निरपेक्ष नम्बूदरीपाद और उनके कामरेडों के ये कारनामे हैं।

पर कम्युनिस्टों के लिए राजनीतिक सिद्धान्तों, मूल्यों, जीवनादर्शों आदि का तो कोई महत्व ही नहीं है। अतः नम्बूदरीपाद ऊपर गिनाई गई फिरकापरस्ती का औचित्य यह कहकर सिद्ध करते हैं कि अगर वे मुस्लिम लीग की माँगें न मानते तो मुस्लिम लीग उन पर भी आर० एस० एस० की तरह सांप्रदायिक होने का आरोप लगाकर उनकी पार्टी के विरुद्ध जन-आंदोलन छेड़ देती और उससे कम्युनिस्टों की वामपंथी सरकार का भविष्य दाँव पर लग जाता। यह है नम्बूदरीपाद का विचित्र तर्क जो वह दे रहे हैं और मुस्लिम सांप्रदायिकता को भड़काकर हिन्दुओं पर दोषारोपण करने की गहिरी राजनीति वे करते हैं।

केरल की तरह पश्चिमी बंगाल में भी कामरेडों ने सन् १९७७ से अबाध रूप से चले आ रहे अपने शासन के दौरान मुस्लिम फिरकापरस्ती को बराबर बढ़ावा देकर अपने सांप्रदायिक होने को ही प्रमाणित किया है। चौदह वर्ष से अधिक के उनके इस शासन-काल के दौरान पश्चिमी बंगाल के उत्तर चौबीस परगना, दक्षिणी चौबीस परगना, नदिया; मुर्शिदाबाद, मालदा, जलपाईगुड़ी, पश्चिमी दीनाजपुर, दार्जिलिंग और कूच-बिहार नामक नौ जिले आज मुस्लिम बहुल बन चुके हैं। १९७१-१९८१ के दशक में इन जिलों की मुस्लिम जनसंख्या की ३० प्रतिशत वृद्धि हुई है जो बंगला देश से अवैध रूप से घुसपैठ करके आए हुये लोगों के परिणामस्वरूप है। लेकिन अपने-आपको 'सिकुलर' बताने का ढोंग करने वाले ज्योति बसु इस समस्या के बारे में 'न देखने, न सुनने और न बोलने' की कसम खाए चुपचाप बैठे हुए हैं।

बौद्धिक प्राणायाम

अब जब देशवासियों के सम्मुख कम्युनिस्टों का यह घिनौना

स्वरूप राष्ट्र में बढ़ रही हिन्दू चेतना के फलस्वरूप स्पष्ट होता जा रहा है तब कम्युनिस्टों के भाष्यकार नम्बूदरीपाद ने 'बहुसंख्यक समाज की सांप्रदायिकता और अल्पसंख्यक समाज की सांप्रदायिकता' में भेद करने का बौद्धिक प्राणायाम शुरू कर दिया है। उनका कहना है कि इनमें से बहुसंख्यक समाज की सांप्रदायिकता अधिक खतरनाक है क्योंकि "हिन्दू बहुसंख्यक भारत में महजबी अल्पसंख्यकों को कुछ असमर्थताओं का सामना करना पड़ता है। अतः देश के मुस्लिम, ईसाई, सिख समाज की महजबी अत्याचारों से सुरक्षा करना श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधि कम्युनिस्ट आंदोलन की जिम्मेदारी बन जाती है। इस आधार पर ही उनकी पार्टी ने 'बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता' के बीच एक विभाजक-रेखा खींचकर 'बहुसंख्यक सांप्रदायिकता' पर अपने आक्रमण को केन्द्रित कर लिया है।"

पिछले कुछ समय से नम्बूदरीपाद ने अपनी पार्टी के नेतृत्व में चलने वाले संयुक्त वामपंथी मोर्चे से केरल के अन्दर मुस्लिम लीग को अलग कर रखा है और इसी तरह शाह बानो प्रकरण पर जब सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उचित कानूनी कार्यवाही करके मुसलमानों को संतुष्ट करने के कांग्रेस (इ) के प्रयासों का जवर्दस्त विरोध कम्युनिस्टों ने किया तब अनेक व्यक्ति यह सोचने लगे कि क्या नम्बूदरीपाद और कम्युनिस्टों का हृदय-परिवर्तन हो गया है ?

गहरी चाल

किन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। यदि ऐसा होता तो केरल में अपने नेतृत्व वाले संयुक्त वामपंथी मोर्चे से मुस्लिम लीग को अलग रखने वाली मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी तमिलनाडु में उसके साथ गठबन्धन जारी नहीं रखती। पर वह गठबन्धन आज भी जारी है। वस्तुतः उसके द्वारा ये दोनों पग केरल की विशेष राजनीतिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर उठाये गये हैं। वहाँ पर मुसलमानों की जनसंख्या लगभग २०-२२ प्रतिशत है। ईसाई आबादी का प्रतिशत भी प्रायः यही है। राजनीतिक दृष्टि से ईसाइयों पर

कांग्रेस (इ) का पूर्ण प्रभुत्व है। मुसलमान मुस्लिम लीग के साथ हैं। कम्युनिस्टों का प्रभाव क्षेत्र ५६-५८ प्रतिशत वाला हिन्दू समाज ही आज तक रहा है। पहले हिन्दू समाज संगठित नहीं था अतः कम्युनिस्टों के लिए मुस्लिम लीग को गले लगाना आसान था। हिन्दू और मुसलमानों के सहयोग से उन्हें सत्ता पर आने का पूरा विश्वास रहता था। ईसाई मत उसे मिलते नहीं हैं। पर अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य-विस्तार से हिन्दू संगठित हो गया है। उधर कम्युनिस्टों की अवसरवादिता और मुस्लिम तुष्टिकरण की हिन्दू समाज पर व्यापक प्रतिक्रिया हुई है। यहाँ तक कि केरल में कम्युनिस्ट नेताओं के घरों की भावी पीढ़ी की हिन्दुत्ववादी शक्ति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के साथ है। २३ वर्षों तक पार्टी के मुखपत्र 'देशाभिमानि' के संपादक रहे हुए बी० टी० इन्दुचूड़न कम्युनिस्टों से पल्ला झाड़ कर संघ के सरसंघचालक वाला साहब देवरस के कार्यक्रम की कुछ वर्ष पूर्व अध्यक्षता कर चुके हैं। केरल में पार्टी के संस्थापकों में से एक एन० सी० शेखर और सुब्रह्मण्यम् नम्बूदरी एवं तोपिल भासि जैसे प्रमुख व्यक्ति उससे अलग हो चुके हैं। कम्युनिस्टों का केरल में ठोस वोट बैंक हिन्दू समाज ही अब तक रहता आया था। अब उसमें सेंध लगते देखकर ही कम्युनिस्टों ने केरल में मुस्लिम लीग को वामपंथी मोर्चे से अलग करने और शाह बानो प्रकरण पर मुस्लिम कट्टरतावाद की निन्दा करने की मुनियोजित नीति अपनायी थी। बंगाल में भी नेताजी सुभाषचन्द्र बसु उनके अग्रज शरदचन्द्र बसु आदि की कांग्रेस नेतृत्व द्वारा की गयी उपेक्षा और पहले के पूर्वी बंगाल से बड़ी भारी संख्या में वेधरवार हुए हिन्दू शरणार्थियों आदि की समस्याओं तथा डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी का सन् १९५३ में काश्मीर में नजरबन्दी के दौरान रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में असामयिक निधन का लाभ उठाकर कम्युनिस्ट वहाँ अपनी शक्ति बढ़ाते चले गये थे। किन्तु मुस्लिम सांप्रदायिकता के सामने घुटने टेकने की नीति और प्रदेश के नौ जिलों के मुस्लिम बहुल बन जाने की प्रतिक्रिया वहाँ भी होने लगी है। अतः ऊपर उल्लिखित दोनों कदम पश्चिमी बंगाल में भी

कम्युनिस्टों की व्यूह रचना को रास आते हैं। इसी लिए उनका सहारा लिया गया है।

दुम टेढ़ी ही रही

लेकिन कामरेडों की मूलभूत सांप्रदायिक सोच और फिरकापरस्ती पर आधारित व्यवहार में कोई भी परिवर्तन आज तक नहीं हुआ है। इस संबंध में तमिलनाडु के अन्दर माकपा और मुस्लिम लीग के गठबन्धन का उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है। जम्मू-कश्मीर के अन्दर कश्मीर घाटी को प्रायः हिन्दुओं से जबरन खाली करा देने के बाद भी उस वारे में तथा इन लाखों बेघर हुए हिन्दुओं की दुर्दशा पर एक शब्द भी न बोलकर वहाँ के अलगाववादी, पाकिस्तान परस्त तत्वों की वकालत करना, राज्यपाल जगमोहन की वहाँ से वापसी कराना आदि घटनाओं से इसी विश्लेषण की पुष्टि होती है। इस राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना के अग्रदूत मर्यादा पुरुषो-
त्तम भगवान श्री राम जी के पावन जन्म स्थल के विषय में जो प्रखर-
विरोध का स्वर इन कामरेडों ने अपना रखा है और पिछले ३० अक्टूबर १९६० के पहले प्रदेश के मुख्यमंत्री मुलायम सिंह के साथ 'सांप्रदायिक सद्भावना' रैलियों के नाम पर जिस तरह मुस्लिम सांप्रदायिकता को भड़-
काने का सुनियोजित रूप से प्रयास कामरेडों ने किया है उससे तो इसी विश्लेषण की पुष्टि होती है कि कुत्ते की दुम को कितना ही वाँस के साथ
ढाँध कर रखो, खोलने पर वह फिर टेढ़ी ही हो जाएगी। भारत के कम्यु-
निस्टों की दशा भी मुस्लिम सांप्रदायिकता को आगे बढ़ाने में इसी प्रकार की
आज तक रही है।

आपात् काल में मुखौटा

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टियाँ अपने-अपने दल की नीतियाँ और कार्यक्रम सुनिश्चित करते समय सदैव अवसरवादिता का परिचय देती रही हैं। उनके लिए तो जिन बातों से सोवियत संघ, चीन और शेष कम्युनिस्ट जगत् का भला होता हो, वही नीति और कार्यक्रम उचित और ग्राह्य है। यदि इससे देश रसातल में

जा रहा हो तब भी उन्हें उसकी लेशमात्र चिन्ता नहीं सताती । पाकिस्तान-निर्माण, अँग्रेजों के हस्तक बनने, मुस्लिम सांप्रदायिकता के सामने घुटने टेकने, राष्ट्र की एकता खंडित कर भारत को बहुराष्ट्रीय राज्य बनाने और हमलावर चीन की वकालत कर अपनी मातृभूमि के मार्मिक हितों को नष्ट करने आदि के मामलों में उन्होंने इसी नीति का परिचय दिया था अपनी इसी परम्परा के अनुसार उन्होंने आज तक इस देश में सैद्धांतिक और वैचारिक आधार पर न तो कांग्रेस (इ) का विकल्प खड़ा होने दिया है और न ही उसके विरुद्ध कोई कारगर मोर्चा चलने दिया है । २५ जून, १९७५ में जब तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने देश में आपात् स्थिति लागू करके संपूर्ण देश को जेलखाना बना डाला तब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी उनकी वगलगीर होकर उसका समर्थन करने लगी । मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने यद्यपि इंदिरा-स्तुति का राग तो नहीं अलापा फिर भी पौने दो वर्ष के उस संघर्ष-काल में उसका कहीं पता नहीं था । कारण यह था कि सोवियत संघ की सरकार को इंदिरा-प्रशासन की विदेश नीति अपने लिए सुविधाजनक दिखाई दे रही थी , अतः अत्यन्त राजनीतिक चतुरता का परिचय देते हुए मार्क्सवादियों ने आपात् स्थिति के विरोध का मुखौटा लगाए रखा, उसने अपने कुछ प्रमुख नेताओं और कार्यकर्ताओं को बन्दी होने दिया पर उसके विरुद्ध कोई प्रभावी संघर्ष नहीं किया । उस समय लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में सक्रिय लोक संघर्ष समिति में उनकी कोई भूमिका नहीं थी । यहाँ तक कि आपात् काल के विरुद्ध जब लोक सभा में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के संसदीय दल के नेता कामरेड ए० के० गोपालन् ने अपना भाषण दिया तब केरल में पार्टी के मुख पत्र 'देशाभिमानि' या अन्य प्रदेशों से निकलने वाले पार्टी के मुख-पत्रों में से किसी में भी वह प्रकाशित नहीं किया गया । इस पर केरल की मार्क्सवादी पार्टी के एक युवा कार्यकर्ता कामरेड चुलियाड ने टिप्पणी करते हुए कहा था कि "मैं मार्क्सवादी पार्टी की क्रांतिकारी-विरोधी भूमिका देखकर दंग रह गया हूँ और मैं उसे त्याग कर अब राष्ट्रीय

स्वयंसेवक संघ जैसी उन राष्ट्रवादी शक्तियों में शामिल हो रहा हूँ जो इस तथाकथित आपात काल के विरुद्ध अपने सिर-धड़ की बाजी लगाए हुए हैं।”

देसाई सरकार को गिराया

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की यह नीति आपात स्थिति के विरुद्ध प्रभावी संघर्ष न करते हुए भी इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व और इंदिरा कांग्रेस के विरुद्ध देश में पनप रहे गंभीर असन्तोष से अधिकाधिक लाभ उठाकर अपनी राजनीतिक स्थिति मजबूत करना था और उचित मौका आते ही इंदिरा विरोधी शक्तियों को धराशायी करके नेतृत्व पर स्वयं कब्जा जमाना था। अब यह बात दूसरी है कि मार्क्सवादी पार्टी की योजना पूरी तरह सफल नहीं हो सकी। पर सन् १९७७ के लोक सभा चुनाव से लाभ उठाते हुए जुलाई १९७६ में तत्कालीन जनता दल की मोरारजी देसाई सरकार को सत्तारूढ़ जनता दल के विभिन्न घटकों में मास्को के इशारे पर फूट डालकर उसे गिराने में उनकी प्रमुख भूमिका रही थी, यह सत्य अब किसी से छिपा हुआ नहीं है। इस तरह सन् १९८० के आरम्भ में इस देश में इन्दिरा गाँधी के दुबारा सत्ता में आने के कारण बनने वाले तत्त्वों में उनकी प्रमुख और उल्लेखनीय भूमिका रही है, यह सभी जानते हैं।

न्यायमूर्ति अय्यर की फजीहत

ऐसी ही राजनीतिक अवसरवादिता का परिचय मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी सहित देश के सभी वामपंथी तत्त्वों ने सन् १९८७ के दौरान राष्ट्रपति पद के चुनाव के अवसर पर दिया था। उस समय तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह और तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के संबंध अत्यन्त तनावपूर्ण थे तथा राजीव पर विभिन्न प्रतिरक्षा सौदों में भ्रष्टाचार के अन्दर संलिप्त होने के गम्भीर आरोप लगाए जा रहे थे। इस परिस्थिति में ज्ञानी जैलसिंह संयुक्त विपक्ष के सर्वसम्मत उम्मीदवार बनकर इकाध्यक्ष और प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के किसी भी प्रत्याशी के

विरुद्ध जोर आजमाइश करने के लिए तैयार थे। यह भी संभावना व्यक्त की जा रही थी कि यदि इस तरह का चुनावी मोर्चा कार्यरूप धारण कर बैठा तब ज्ञानी जी की विजय सुनिश्चित है। उनकी जीत का अर्थ राजीव सरकार का समय से पहले ही अन्त हो जाना था। इस तरह राजनीतिक परिवर्तन का प्रबल वायुमंडल देश में बना हुआ था। पर सोवियत संघ के राष्ट्रीय हितों से उनका कोई मेल नहीं बैठ रहा था और उसी दौरान भारत के सभी कम्युनिस्ट गुटों को दिशा-निर्देश देने के लिये सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के मुखपत्र 'प्रावदा' में एक लेख प्रकाशित किया गया था जिसमें कहा गया था कि "संकट की इस घड़ी में भारत की जनता और उसके मित्र (कम्युनिस्ट देश) राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली सरकार का तथा देश की समस्त राष्ट्र-प्रेमी शक्तियों को संगठित करने की उनकी नीति का सक्रिय समर्थन करते हैं।"

इससे देश के कम्युनिस्ट अत्यन्त दुविधा जनक हालत में फँस गए। अतः उन्होंने उसमें से उबरने के लिए भ्रष्टाचार के दानवी नृत्य को सामने देखते हुए भी 'हिन्दू और भाजपा की सांप्रदायिकता का तथाकथित काल्पनिक भूत' खड़ा करके विपक्ष को एकजुट नहीं होने दिया और सर्वोच्च न्यायालय के सेवा-निवृत्त न्यायाधीश कृष्णन् अय्यर को इका प्रत्याशी आर० व्यंकटरमण के विरुद्ध मैदान में उतार दिया। फलस्वरूप ज्ञानी जी चुनाव मैदान से किनारा कर गए और न्यायाधीश अय्यर की फजीहत हो गई। अपनी इस पराजय और राजनीतिक दुर्दशा पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये अय्यर महोदय ने जो-कुछ कहा था उसका आशय यह था कि नम्बूदरीपाद सहित सभी कम्युनिस्ट नेताओं ने उन्हें विपक्ष का साँझा उम्मीदवार बनने का अभिवचन दिया था। यदि उन्हें पहले यह पता होता कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है तब वे संभवतः चुनाव मैदान से दूर ही रहते।

इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए सुप्रसिद्ध लेखक ए० जी० नूरानी ने उस समय लिखा था कि "उनकी (कम्युनिस्टों की) दुविधा बड़ी परे-

ज्ञान करने वाली है। 'राजीव समर्थक' पुकारे जाने से उन्हें नफरत है, विशेष रूप से ऐसे समय में जब उनकी लोकप्रियता का ज्वर विलकुल उतर चुका है। परन्तु राजीव को समर्थन देने के लिए मास्को के दबाव का सामना कर पाना भी उनके लिए अत्यन्त कठिन रहा है।" अतः उन्होंने अत्यन्त चतुरता के साथ 'संघर्ष करते रहो और साथ चलते रहो' की नीति अपनाकर एक ओर तो राजीव गाँधी के प्रत्याशी के विरुद्ध संघर्ष का नाटक किया उधर ज्ञानी जी को चुनाव मैदान से हटाकर उन्होंने राजीव गाँधी की गद्दी सुरक्षित बनाए रखकर उनका साथ भी दे दिया। नूरानी के ही शब्दों में "सी० पी० आई० और माकपा के अभी हाल के आचरण से किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यह 'संघर्ष करते रहो और साथ चलते रहो' की नीति का एक अंश है।"

बेसुरा राग

इसके बाद जैसे-जैसे लोकसभा के चुनाव का समय नजदीक आता गया भारत के कम्युनिस्टों ने विपक्ष का कोई एक सुसंगठित संयुक्त मोर्चा बनाना नामुमकिन कर दिया। भाजपा के नेतृत्व में हिन्दू सांप्रदायिकता का बेसुरा और आधारहीन राग अलापकर उन्होंने सभी को यह स्पष्ट कर दिया कि वे भाजपा के लोगों के साथ मिलकर चुनाव लड़ना तो दूर उनकी शक्ल भी नहीं देखना चाहते और इसलिए जो राजनीतिक दल भाजपा से समझौता करेंगे उनके साथ मिलकर वे चुनाव नहीं लड़ेंगे। उनकी इस हठवादिता के कारण नवम्बर, १९८६ के लोक सभा चुनाव में इंका के विरुद्ध विपक्ष का कोई देशव्यापी मोर्चा नहीं बन सका। प्रादेशिक आधार पर राजनीतिक ताल-मेल ही कायम हो सका था। किन्तु जब चुनाव परिणामों से पता चला कि जनदेश ने इंका और राजीव को पूरी तरह ठुकरा दिया है और भाजपा उनके घोर विरोध के बावजूद भी उनसे कहीं अधिक ८८ स्थान लोकसभा में ले गई है तब उसके द्वारा समर्पित राष्ट्रीय मोर्चे की बी० पी० सिंह सरकार को अपना समर्थन देने के लिये वे तैयार हो गये। अब उन्होंने अपना यह पुराना राग अलापना छोड़ दिया

कि चूँकि भाजपा वी० पी० सिंह का समर्थन कर रही है अतः वे उनके नेतृत्व में गठित होने वाली सरकार का समर्थन नहीं करेंगे । इस तरह की राजनीतिक करवट बदलने का सर्वप्रमुख कारण यही था कि कम्युनिस्ट यह जानते थे कि यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो भारतीय मतदाता उन्हें कभी नहीं बख्शेंगे वे अप्रासंगिक बन जाएँगे ।

‘किंग-मेकर’ बनने की नाकाम कोशिश

पर अपनी आदत से मजबूर इन कामरेडों ने विश्वनाथ प्रतापसिंह सरकार को भी चलने नहीं दिया और एक वर्ष से भी कम समय की अवधि में उन्होंने उसका अस्तित्व समाप्त करा दिया । सचाई तो यह है कि भाजपा जैसे राष्ट्रीय दल का वी० पी० सरकार को दिया जाने वाला समर्थन भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों और अन्य वामपंथियों को इसलिये रास नहीं आ रहा था क्योंकि उन्हें भाजपा की बढ़ती हुई लोकप्रियता से बहुत अधिक चिढ़ पैदा हो गई थी अतः जब राम जन्म भूमि का मसला गंभीर रूप लेने लगा तब केन्द्र की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार पर अपने दबदबे का राजनीतिक अहसास कराने को इन कामरेडों ने अपने लिए एक स्वर्णिम अवसर समझा । इस सम्बन्ध में उनकी कारगुजारी पर टिप्पणी करते हुये देश के वरिष्ठतम पत्रकारों में से एक एस० निहाल सिंह ने लिखा है कि कम्युनिस्टों ने वी० पी० सरकार पर बहुत अधिक दबाव डाला कि वे भारतीय जनता पार्टी के प्रति कठोरता से पेश आयें और इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय न होने तक अयोध्या में भगवान राम का मंदिर न बनने दें । कामरेडों का अनुभव था कि यदि ऐसी दृढ़ता प्रदर्शित की गई तब उस स्थिति में भाजपा अपने कदम पीछे हटा लेगी क्योंकि कामरेडों के गणित के अनुसार भाजपा को मध्यावधि चुनाव का खतरा दिखाकर डरा दिया जाएगा । और उसे यह बता दिया जाएगा कि इस संभावित मध्यावधि चुनाव में वह एकाकी और अलग-थलग रह जायेगी तथा देश के अन्य सभी राजनीतिक दल पंथनिरपेक्षता या सेकुलरिज्म के नाम पर उसको ऐसा राजनीतिक ग्रहण लगा देंगे कि वह नवम्बर १९८६ के लोक-

सभा चुनावों की तरह ८८ स्थान अब फिर कभी प्राप्त नहीं कर सकेगी। उनकी गणित का दूसरा निष्कर्ष यह था कि शक्ति-परीक्षण की स्थिति में भी सेकुलरिज्म के नारे पर इन्दिरा कांग्रेस को वी० पी० सिंह के राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार का समर्थन करने के लिये मजबूर कर दिया जायेगा। इससे जनता में भाजपा की साख तो गिर ही जायेगी और 'किंग मेकर' की अपनी भूमिका के कारण कम्युनिस्टों के प्रभाव में इतनी अधिक बढ़ोत्तरी होगी कि आगामी चुनाव में वे देश के हिन्दी क्षेत्र में भी एक महत्वपूर्ण शक्ति बनकर शीघ्र ही राष्ट्र का नेतृत्व अपने हाथ में ले लेने में सफल हो जाएँगे।

श्री एस० निहालसिंह का यह विश्लेषण इसलिये सही है कि १८ सितम्बर, १९६० को तत्कालीन प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने कम्युनिस्टों द्वारा निर्धारित रणनीति के अनुसार यह सार्वजनिक घोषणा कर दी थी कि भाजपा की हिन्दू सांप्रदायिकता के सामने घुटने टेकने के स्थान पर वे विपक्ष में बैठना पसन्द करेंगे। यह वक्तव्य एक प्रकार से भाजपा को दिया गया अन्तिमेत्यम् था कि या तो वह अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करें अन्यथा केन्द्र में कुख्यात कांग्रेस (इ) का शासन दुबारा कायम होने के पाप का सेहरा अपने सिर पर बाँध ले।

मन्दिर बनाना तारपीडो किया

संयोगवश कामरेडों की इच्छा अनुसार घटनाएँ नहीं घटीं और उनका गणित गड़बड़ मड़बड़ हो गया। इस अन्तिमेत्यम् के प्रत्युत्तर में भाजपा नेतृत्व ने १७ अक्टूबर, १९६० को सार्वजनिक रूप से यह स्पष्ट कर दिया कि राम जन्मभूमि परिसर में भगवान रामलला जी के भव्य मन्दिर की परियोजना विश्व हिन्दू परिषद द्वारा घोषित कार्यक्रम के अनुसार ३० अक्टूबर, १९६० से अवश्य शुरू होगी और यदि प्रशासन ने भाजपा अध्यक्ष लालकृष्ण आडवानी की सोमनाथ से सरयू तक की रथ-यात्रा को रोकने का प्रयास किया तब वी० पी० सरकार को दिया जा रहा जन-समर्थन वापस ले लिया जाएगा।

इससे राष्ट्रीय मोर्चा सरकार और प्रधानमन्त्री विचलित हो उठे। रामरथ यात्रा को प्राप्त होने वाले अद्वितीय और अभूतपूर्व जनसमर्थन से उनकी नींद हराम हो गई। उन्हें अपनी सरकार का तख्ता उलटता दिखाई दिया। अतः दुःस्थिति से बचने के लिए वी० पी० सिंह सरकार ने २२ अक्टूबर, १९६० को रामजन्मभूमि के सम्पूर्ण परिसर का केन्द्र सरकार द्वारा अधिग्रहण कराने के लिए राष्ट्रपति रामस्वामी व्यंकटरमण से एक अध्यादेश जारी करा दिया। इससे कम्युनिस्टों की नींद हराम हो गई। उन्हें लगा कि भाजपा को ब्लैकमेल करने की उनकी योजना ही केवल धराशाई नहीं हुई है बल्कि रामजन्मभूमि परिसर के संपूर्ण क्षेत्र का अधिग्रहण हो जाने से अब मामला न्यायालय से बाहर आ गया है और केन्द्र सरकार अब इस संपूर्ण परिसर को विश्व हिन्दू परिषद को सौंप देगी। दूसरे शब्दों में इस अध्यादेश ने उक्त परिसर क्षेत्र में भगवान रामलला जी का मन्दिर बनाना सुनिश्चित कर दिया है। अतः उससे तारपीडो करने के लिये कामरेडों ने बावरी मस्जिद एक्शन कमेटी, जामा मस्जिद के इमाम बुखारी आदि के द्वारा वी० पी० सरकार पर दबाव डालने के साथ-साथ स्वयं भी यह धमकी दे दी कि इस अध्यादेश पर तुरन्त अमल रोककर उसे वापस नहीं लिया गया तो वे सरकार से अपना समर्थन वापस ले लेंगे।

वी० पी० को दुमछल्ला बनाया

अब वी० पी० सरकार के सामने दो प्रस्तुत विकल्पों में से एक को चुनना था। वे विकल्प ये थे कि वह सरकार अपना भविष्य इस देश की राष्ट्रीय संस्कृति के प्रतीक भगवान राम तथा भाजपा से जोड़े या फिर वह विदेशियों के इशारे पर नाचने वाली कम्युनिस्ट पार्टियों को गले लगाए। इस स्थिति में कामरेडों ने तत्कालीन प्रधानमंत्री वी० पी० सिंह और राष्ट्रीय मोर्चे के अन्य घटकों के नेताओं को यह समझाना शुरू किया कि भाजपा के साथ लगने से उनकी सरकार का पतन होना सुनिश्चित है। बाद में जब कभी चुनाव भी होंगे तो उसका लाभ भाजपा को मिलेगा और वे हाथ मलते रह जाएंगे। इसके विपरीत यदि सरकार उनके साथ आती

है तब सभी तथाकथित सेकुलर शक्तियों का सहयोग और समर्थन उन्हें प्राप्त हो जाएगा और वी० पी० के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार बच जाएगी। फिर भी यदि राजीव गांधी की इंका ने सरकार का साथ नहीं दिया तब एक ओर तो जनता में उनकी किरकिरी होगी और दूसरी ओर राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को शहादत का वह लाभ मिलेगा जिसका उपयोग करके वह आगामी चुनाव में भारी बहुमत से अपने बल-बूते पर द्वारा सत्ता में आ जायेगी। कामरेडों ने वी० पी० और राष्ट्रीय मोर्चे को यह विश्वास भी दिलाया कि राजीव गांधी के नेतृत्व में इंका सरकार अधिक दिन चल नहीं सकेगी तथा कुछ ही महिनों बाद देश में आम चुनाव अवश्य होंगे। इस घटनाक्रम से भाजपा को और अधिक हानि होगी क्योंकि समय बीतने के साथ-साथ राम जन्मभूमि आंदोलन से उत्पन्न जन-भावनाएँ शान्त हो चुकी होंगी और इसलिए भाजपा को उसका लाभ नहीं मिल सकेगा।

कम्युनिस्टों के ये तर्क राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को उचित प्रतीत हुए। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि भाजपा और राष्ट्रीय मोर्चे के सर्वाधिक प्रभावी घटक जनता दल का प्रभाव-क्षेत्र देश का अत्यन्त महत्वपूर्ण हिन्दी भाषी भाग है। जबकि कम्युनिस्टों का वहाँ तनिक भी प्रभाव नहीं है। इसलिए उन्हें कामरेडों से किसी तरह का खतरा नहीं हो सकता। अतः उनका साथ देना ही उचित होगा और इसलिए कम्युनिस्टों के दबाव में आकर तत्कालीन प्रधानमंत्री ने २३ अक्टूबर, १९६० को दो दिन पहले घोषित अध्यादेश को वापस ले लिया और २२, २३ अक्टूबर, १९६० की अर्द्धरात्रि में बिहार के समस्तीपुर नामक स्थान पर रामरथ-यात्रा रोक कर भाजपा अध्यक्ष लालकृष्ण आडवानी को बन्दी बना लिया।

अपनी घोषणा के अनुसार भाजपा ने २३ अक्टूबर, १९६० की प्रातः-काल ही राष्ट्रपति को लिखित सूचना देकर वी० पी० सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। अतः सरकार अल्पमत में आ गई थी और लोक-तांत्रिक मूल्यों परम्पराओं और मर्यादाओं का यह तकाजा था कि प्रधान-

मंत्री अपनी सरकार का त्यागपत्र तुरन्त राष्ट्रपति को सौंप देते। लेकिन कम्युनिस्ट पार्टियों ने उन्हें ऐसा करने नहीं दिया। वे तो देशवासियों और विशेषकर प्रभावी जनमत बनाने में सहायक होने वाले प्रबुद्ध नागरिकों के बीच वी० पी० सिंह और राष्ट्रीय मोर्चा सरकार की छवि पूरी तरह बिगाड़ कर अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करना चाहते थे। अतः उन्होंने वी० पी० सिंह को अपना बहुमत लोकसभा में सिद्ध करने की सलाह दी और बताया कि इस बीच प्राप्त समय का उपयोग इन्दिरा काँग्रेस को तथाकथित सेकुलरिज्म की घुट्टी पिलाने अथवा भाजपा और इका के पिछड़े और अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के संसद्-सदस्यों को तोड़ने में किया जायेगा जिससे सरकार का अस्तित्व बना रहे। आवश्यक हो तो संसद्-सदस्यों की खरीदफरोख्त करने की योजना भी कामरेडों ने वी०-पी० सिंह और राष्ट्रीय मोर्चा घटकों को सुझायी।

इसी आधार पर कम्युनिस्टों के वरिष्ठ नेताओं ने इन्दिरा काँग्रेस के वरिष्ठ नेताओं सहित राजीव गांधी तक से लम्बी मुलाकातों की और उन्हें तथाकथित सेकुलरिज्म का वास्ता देकर राष्ट्रीय मोर्चा सरकार का समर्थन करने को तैयार करने की कोशिश की पर जब उन्हें यह दिखाई दिया कि उनके ये प्रयास सफल होने वाले नहीं हैं क्योंकि इका नेतृत्व सत्तारूढ़ राष्ट्रीय मोर्चे के सबसे बड़े घटक जनता दल में दरार डालकर उसके किसी अन्य नेता के नेतृत्व में वैकल्पिक सरकार बनाने की दिशा में बहुत आगे बढ़ चुका है, तब ३ नवम्बर, १९६० को केरल में वी० पी० सिंह द्वारा पिछड़े वर्ग को संबोधित की जाने वाली रैली से माकपा के मुख्यमंत्री ई० के० नयनार और माकपा के महासचिव ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद ने अपने-आपको अलग कर उन्हें यह चेतावनी दे दी कि कम्युनिस्ट उनसे बँधे हुए नहीं हैं और वे उनका अपने तरीके से ही उपयोग करेंगे।

अन्ततः ७ नवम्बर, १९६० को हुए शक्ति-परीक्षण में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार और वी० पी० सिंह की पराजय हो गई। चूँकि कम्युनिस्ट पार्टियाँ उस समय संपूर्ण राष्ट्र के राममय होने के कारण नए चुनाव का खतरा

उठाने के लिए तैयार नहीं थीं, अतः वी० पी० सिंह मध्यावधि चुनाव के लिए तत्पर होने के बावजूद वैसी कोई सलाह राष्ट्रपति को नहीं दे सके।

इसके साथ ही जनता दल में विभाजन की प्रक्रिया शुरू हो गई और चन्द्रशेखर के नेतृत्व में जनता दल (समाजवादी) का गठन हो गया। वैचारिक साम्यता, सिद्धान्तों की निकटता आदि की दृष्टि से चन्द्रशेखर और जनता दल (स) के अपने से निकट होने के बावजूद कम्युनिस्टों ने उनका साथ न देकर वी०पी० सिंह और राष्ट्रीय मोर्चे से ही गठजोड़ जारी रखना उचित समझा। इसका एक महत्वपूर्ण कारण तो यह था कि चन्द्रशेखर के जनतादल (स) ने राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) का पल्ला पकड़ लिया था जबकि जनता दल में इका की छवि अभी सुधर नहीं सकी थी। अतः उनके साथ गठजोड़ करके कम्युनिस्ट जनाक्रोश का शिकार नहीं बनना चाहते थे। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कारण तो यह था कि कम्युनिस्ट इस सच्चाई को जानते थे कि यदि उन्होंने ऐसा किया तो भविष्य में होने वाले चुनावों के दौरान देश के राजनीतिक भविष्य का निर्धारण करने में प्रायः निर्णायक भूमिका अदा करने वाले हिन्दी भाषी प्रदेशों में उनकी घुसपैठ नहीं हो सकेगी, क्योंकि कांग्रेस (इ) उन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में डाका डालने की अनुमति कभी नहीं देगी। इसके विपरीत वी०पी० सिंह की पूँछ पकड़कर और मंडल कमीशन को लागू करने की माला जपकर वे इस अति महत्वपूर्ण वोट बैंक वाले प्रदेशों में चुनाव चैतरणी पार करने में सफल हो सकते हैं अथवा वहाँ अपनी घुसपैठ कर सकते हैं। कम्युनिस्टों के सामने ऐसे हालातों में सदैव केरेन्स्की का चित्र घूमने लगता है जिसे लेनिन ने मार्च, १९१७ में रूस में हुई क्रान्ति के बाद सात महीने की कालावधि में ही अप्रासंगिक बनाते हुए अक्टूबर १९१७ की सोवियत राज्य क्रान्ति के समय अवांछनीय बना दिया था। भारत के कम्युनिस्ट भी पश्चिमी बंगाल और केरल में उसी तकनीकी का सफल प्रयोग इसके पहले कर चुके हैं जब उन्होंने पश्चिमी बंगाल के लोक-

प्रिय नेता अजय मुखर्जी और केरल के सुप्रसिद्ध गाँधीवादी नेता केलप्पन् का राजनीतिक लाभ उठाकर फिर उन्हें अप्रासंगिक बना दिया था। अब हिन्दी भाषी प्रदेशों में वही प्रयोग वी० पी० सिंह पर करने जा रहे हैं और अपने राजनीतिक स्वार्थ की गोटी सेंक लेने के बाद ये कामरेड उन्हें भी दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर कर कूड़ेदान में फेंक देने में तनिक भी संकोच नहीं करेंगे। फिलहाल वी० पी० सिंह को उन्होंने अपना दुमछल्ला बनाकर ही १९६१ के मध्यावधि चुनाव की रणनीति तैयार की है।

अध्याय आठ

उपसंहार

पिछले अध्यायों में दिये गये विवरण से यह स्पष्ट हो गया है कि मार्क्सवाद सैद्धान्तिक धरातल पर पूरी तरह विफल हो चुका है और उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या या आर्थिक नियतिवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, वर्ग-संघर्ष की संकल्पना, मेहनत-कश या सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और वर्गविहीन तथा राज्यविहीन आदर्श कम्युनिस्ट समाज की स्थापना का दर्शन परी-लोक की कहानियों की भाँति पूरी तरह काल्पनिक सिद्ध हो चुका है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के स्थान पर सोवियत संघ में सर्वहारा के ऊपर कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही कायम हुई थी और फिर उसके बाद वर्गविहीनता या राज्यविहीनता के स्थान पर पूँजीवाद के अधिकचरे दर्शन की ओर वापस लौटने का क्रम वहाँ पर चल रहा है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन की मान्यता एक खोखला दिवा-स्वप्न बन चुका है और परिवारों को तोड़कर कम्यूनों में रहने की कल्पना बौद्धिक प्राणायाम करके अपनी इतिश्री करा चुकी है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का भूत तो लेनिन के समय से ही उतरने लगा था। और उसके बाद स्टालिन और उसके उत्तराधिकारियों ने उसे बहुत गहरा दफनाकर सोवियत संघ के साम्राज्यवाद के रूप में मार्क्सवादी मक्का के अन्दर राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता का विकृत रूप फिर से

जीवित कर दिया था। इसी बीच कम्युनिस्ट राष्ट्रों में चलने वाले आपसी संघर्ष और सोवियत संघ तथा चीन के बीच नेतृत्व का द्वन्द्व सिद्धान्तों के आवरण में छिप न सका और राष्ट्रीयता का प्रबल स्वर मुखरित हो उठा। इसकी गंभीर प्रतिक्रिया हुई और वैसाखी के सहारे पर टिके सोवियत संघ के गणराज्य अपनी-अपनी राष्ट्रीयता के आधार पर अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की मांग करने लगे। दूसरी ओर कम्युनिज्म के पुरोहित मार्क्सवाद और मजहब में सामान्य तत्त्व खोजने में लग गए। ये सभी घटनाएँ मार्क्सवाद की प्रासंगिकता पर गहरा प्रश्न चिन्ह लगा देती हैं।

इसमें संदेह नहीं कि इस शताब्दी के आरम्भ में कम्युनिज्म के अस्तित्व के सम्मुख उत्पन्न संकट को टालने की दृष्टि से लेनिन ने अत्यन्त सुनियोजित प्रयास किये। पर उसके द्वारा मार्क्सवाद को लगाई गई वैसाखी भी विफल सिद्ध हुई। उल्टे उससे कम्युनिज्म का और अधिक घिनौना स्वरूप ही संसार के सामने प्रकट हुआ। इसके बाद इस शताब्दी के छठे दशक में अस्तित्ववाद और नव वामपंथ के नाम से नवीन आंदोलनों ने जन्म लिया। इनके मुख्य समर्थकों में अमेरिका और यूरोपीय दोनों महा-द्वीपों के विद्वान शामिल थे। इनमें हरबर्ट मारक्व्यूज, जीनपाल सार्त्रे, अरनेस्ट ब्लॉच, लेसजक कोलाकोवास्की और एस. स्टोजनोविक प्रमुख थे। इन्होंने मार्क्स की सन् १८४८ में प्रकाशित 'कम्युनिस्ट घोषणा पत्र' से पहले की लिखी रचनाओं को अपने विश्लेषण का आधार बनाया और सोवियत नमूने के लेनिनवादी-स्टालिनवादी-मार्क्सवाद की कड़ी भर्त्सना करते हुए मार्क्स को एक महान् मानवतावादी बताकर मार्क्सवाद की नयी व्याख्या करनी शुरू की। इसके साथ ही उन्होंने पश्चिम के पूंजीवाद की भी कटु भर्त्सना की। किन्तु उनके इन प्रयासों का कोई विशेष परिणाम नहीं निकल सका। तदुपरान्त सातवें दशक में फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता जार्ज मारशे स्पेन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता सैन्तिषागो केरिलो और इटली की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता एनरिको बरलिंगर और पामीरो तोगलियाती ने यूरोपीय कम्युनिज्म या यूरो-कम्युनिज्म के नाम से मार्क्स-

वादी दर्शन का लोकतन्त्रीकरण करने का प्रयास किया । इस सम्बन्ध में इटली, स्पेन और फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने सन १९७५ में फिनलैंड की राजधानी हेलसिंकी में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज को स्वीकार करके सोवियत और चीनी मार्कसवाद की कटु निन्दा की और व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा मानवीय अधिकारों पर बहुत अधिक बल दिया । लेकिन नव वाम पंथी की तरह वह भी मार्क्सवाद को प्रासंगिक बनाने में विफल रहा क्योंकि शीघ्र ही उसमें और लोकतांत्रिक समाजवाद में अंतर कर पाना मुश्किल हो गया । इस बीच पूर्वी यूरोप के अन्दर पूर्वी जर्मनी पोलैंड हंगरी और चेकोस्लोवकिया आदि देशों में उदारवादी आंदोलन के जोर पकड़ने और सोवियत संघ द्वारा नग्न सैनिक बल द्वारा उनका वर्चस्वपूर्वक दमन करने से यह स्पष्ट हो गया कि एक स्वतन्त्र राजनीतिक विचारधारा और महत्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तन के रूप में मार्क्सवाद अपना स्वरूप कभी का खो चुका है और सोवियत संघ के निर्देशन और नियंत्रण में पूर्वी योरोप के देशों में मार्क्सवाद के स्थान पर सोवियत साम्राज्यवाद की व्यवस्था लागू है । सोवियत संघ से मतभेद रखकर मार्क्सवाद की सही व्याख्या करने का दावा करने वाले चीन की हालत भी उससे किसी तरह अच्छी नहीं थी । उसने भी तिब्बत भारत के उल्लेखनीय भूभाग और वियतनाम पर अपना साम्राज्यवादी शिकंजा कायम कर रखा था जो आज भी कमोवेश रूप में लागू है । वियतनाम और कम्पूचिया में तो प्रभुत्व के के लिए सोवियत और चीन समर्थक तत्व एक-दूसरे के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष करते रहे हैं । लेकिन इनमें से कम्युनिज्म या मार्क्सवाद का कोई भी नमूना अपने-अपने क्षेत्र के निवासियों के जीवन की रोटी, कपड़ा और मकान की अनिवार्य जरूरतों को पूरा कराने में पूरी तरह विफल हो चुका है । उन्हें शोषण से मुक्ति दिलाकर सम्मानपूर्ण जीवन बिताने की व्यवस्था कराना तो परी-लोक की कथा ही बनकर रह गयी है । अफगानिस्तान पर सोवियत संघ के नग्न साम्राज्यवाद ने मार्क्सवाद की अन्तर्राष्ट्रीयता की उस कलाई को एक बार फिर से उठाड़ कर रख दिया है

जो पहले पूर्वी यूरोप के देशों में घटित हो चुकी थी। फलस्वरूप १९८८ से १९९० के बीच कम्युनिस्ट जगत में आये व्यापक परिवर्तनों, कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद के विखराव, मार्क्सवाद से उनकी विरक्ति, सोवियत संघ में खुलेपन या ग्लासनास्त और पुनर्रचना या पेरॉस्टोइका के अन्तर्गत सोवियत नागरिकों की बुभुक्षा, उनकी अर्थ-व्यवस्था के विखराव तथा जर्मनी के एकीकरण आदि की प्रक्रियाओं ने मार्क्सवाद और उनके समर्थकों के सभी दावों और आर्थिक समृद्धि एवं शोषणविहीन आर्थिक-सामाजिक-राज-नीतिक व्यवस्था के सभी सब्ज-बागों का दिवालियापन दिखाकर उसकी समाप्ति का श्रीगणेश कर दिया है और ऐसा प्रतीत होता है कि सन् १९५५ में फ्रांस के सुप्रसिद्ध भविष्य वक्ता नॉस्ट्रेडेस द्वारा कम्युनिज्म या मार्क्सवाद के विनाश की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो रही है। सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाचोव द्वारा पश्चिमी देशों, यहाँ तक कि दूसरी बड़ी लड़ाई में पूरी तरह विनष्ट जर्मनी और जापान के सामने 'भिक्षां देहि' की रट लगाकर उनसे आर्थिक, वित्तीय तथा तकनीकी सहायता की मांग करना आखिर इसी बात का परिचायक है। अब तो सोवियत संघ को विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाले अपने देश की राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को सुरक्षित बनाये रखना भी एक हिमालयी चढ़ाई जैसी दिख रही है। इसके बाद भी मार्क्सवाद की विफलता के संबंध में क्या किसी भी व्यक्ति को संदेह करने की कोई गुंजा-इस शेष रह जाती है ?

जहाँ तक भारत में मार्क्सवाद या कम्युनिज्म के भविष्य का प्रश्न है, यही कहना अधिक ठीक होगा कि उसका आज तक जब कोई ठोस आधार वाला अतीत ही नहीं रहा है तब उसका भविष्य कैसे उज्ज्वल हो सकता है ? १७ अक्टूबर, १९२० को आरंभ कम्युनिस्ट आंदोलन की रामकहानी तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गुप्त एजेंट, उसके पृष्ठ-पोषक, राष्ट्र की अखंडता को पलीता लगाने वाली कार्यवाहियों के सफरमैना और मुस्लिम लीग की पीठ ठोककर इस सनातन राष्ट्र की सदियों पुरानी सांस्कृतिक एकता को खंडित करने की रही है। देश के दुश्मनों को सहायता देकर पंचमांगी

गतिविधियों से उसका इतिहास भरा पड़ा है। और जैसा कि सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ विचारक हेराल्ड लासवेल का कहना है कि मार्क्सवाद मानसिक रूप से अस्वस्थ किसी समाज को ही अपनी मोहक अपील से आकर्षित कर सकता है किन्तु स्वस्थ मानसिकता वाला समाज उसके चंगुल में कभी भी फँस नहीं सकता, भारत के संदर्भ में पूरी तरह सही सिद्ध हुआ है। इसी कारण भारत का गरीब मजदूर, किसान, खेतिहर, श्रमजीवी, दलित, शोषित हरिजन, आदि वर्ग भी मार्क्सवाद के आकर्षण जाल में फँस नहीं सका है। वह गरीब और दरिद्र अवश्य है पर उसे अपने स्वत्व और अस्मिता की पहचान है। वह रोटी को राम के साथ प्राप्त करने को दृढ़-संकल्प हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के पावन जन्म स्थल पर श्री रामलला के भव्य मंदिर निर्माण में अपनी अविचल श्रद्धा और निष्ठा व्यक्त करके उसने इस सत्य को अव स्पष्टिक मणि की तरह स्पष्ट कर दिया है। किन्तु वह अपनी गरीबी, दरिद्रता, शोषण और अन्य सामाजिक व्याधियों से मुक्त होने के लिये भी कृत संकल्प हैं। कम्युनिस्टों के नारों से आकर्षित होकर उसने उनसे जुड़ने का प्रयास अवश्य किया था, लेकिन उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होते ही वह उनसे विमुख हो गया है। यही कारण है कि अब भारत के कम्युनिस्ट भारतीय मजदूर जगत के प्रवक्ता भी नहीं रह गये हैं। उनके द्वारा नियंत्रित मजदूर संगठनों में मजदूरों की सदस्य संख्या निरन्तर घटती जा रही है और राष्ट्रवाद के आधार पर मजदूरों का संगठन कर उनकी भौतिक समस्याओं का हल खोजने और सम्पूर्ण समाज की एकजुटता का समर्थन करने वाले भारतीय मजदूर संघ की शक्ति, प्रभाव और सदस्य संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। उसने मजदूर क्षेत्र में कम्युनिस्टों को कहीं पीछे छोड़ दिया है। यही कारण है कि नवम्बर १९८५ में केरल की एक मलयालम भाषी पत्रिका में एक लेख लिखते हुये केरल के भूतपूर्व कम्युनिस्ट मुख्यमंत्री अच्युत मेनन ने लिखा था कि "जिस समय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई उस समय हमने देश में राजनीतिक एकता के अभाव के तथ्य को ध्यान में रखकर यह कह दिया था कि

भारत कभी भी एक राष्ट्र नहीं रहा है और वह एक बहुराष्ट्रीय राज्य है। लेकिन अब हमें यह अहसास होने लगा है कि भारत एक राष्ट्र ही है। यहां राजनीतिक एकता भले ही न रही हो, किन्तु सांस्कृतिक एकता यहां थी। यहां अलग-अलग भाषाएँ थीं, इसलिए हमने सोचा कि विभिन्न भाषा भाषी लोग अलग-अलग राष्ट्र थे। किन्तु अब हमारे ध्यान में यह सत्य भी आ रहा है कि अलग-अलग भाषाएँ होते हुये भी उन सभी के भाव और भावनाएँ एक थीं। उनमें जबर्दस्त सांस्कृतिक एकता थी। यदि यह सांस्कृतिक एकता न होती तो क्या केरल से निकल कर आदि शंकराचार्य सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते और हिन्दु-स्थान के चारों कोनों में चार मठों की स्थापना करते ? यदि सांस्कृतिक एकता न होती तो उक्त चार मठों की स्थापना नहीं होती। और अब हमारे ध्यान में यह भी आ रहा है कि जिसको हम तीर्थ-क्षेत्र कहते हैं वह वास्तव में राष्ट्रीय एकात्मता के केन्द्र हैं। सांस्कृतिक एकता पर आधारित इस देश के राष्ट्रीयत्व का आधार यदि कोई हो सकता है तो वह इस देश में हिन्दू धर्म (फैथ) ही हो सकता है। हिन्दू धर्म से मेरा अभिप्राय केवल वैदिक मतावलम्बियों से ही नहीं है, उसमें जैन, बौद्ध आदि वाकी के लोग भी आ जाते हैं।”

काश ! नम्बूदरोपाद और हरिकिशनसिंह सुरजीत जैसे कम्युनिस्ट नेता अपने ही एक वरिष्ठ सहयोगी के इन श्रेष्ठ वचनों का मनन और अध्ययन कर उनका अर्थ समझ पाते तो वे आज की तरह हिन्दू सांप्रदायिकता का तथाकथित हौआ कभी भी खड़ा नहीं करते । किन्तु देर-सवेर उन्हें इस सच्चाई को स्वीकार करना ही पड़ेगा, इसमें अब कोई संदेह नहीं रह गया है ।

परिशिष्ट

अपनी आन्तरिक कमजोरियों एवं विरोधाभासों के कारण कम्युनिज्म का ढहता हुआ महल उस समय पूरी तरह भूमिसात हो गया जबकि १९ से २१ अगस्त १९६१ के मध्य गेन्नादी यानायेव के नेतृत्व में सोवियत संघ में खुलापन (ग्लासनास्त) और पुनर्रचना (पेरेस्त्रोइका) लाने के मिखाइल गोर्बाचोव के सद्प्रयासों के विरुद्ध प्रतिक्रान्ति करने का प्रयास किया गया। लेकिन यानायेव के नेतृत्व में डबल चांडाल चौकड़ी (आठ व्यक्तियों की तथाकथित क्रान्ति परिषद) की यह दुरभिसंधि इसलिये कारगर नहीं हो सकी क्योंकि १९६५ से १९६१ के मध्य पूर्वी योरोप के कम्युनिस्ट देशों सहित सोवियत संघ में परिवर्तन की जो आँधी चल रही थी उसे रोक पाना इस प्रतिक्रान्ति समर्थक डबल चांडाल चौकड़ी के लिये संभव नहीं था। वे यह भूल गये थे कि इस काल के मध्य संपूर्ण पूर्वी योरोप कम्युनिज्म के जुए को उखाड़कर फेंक चुका है। अफगानिस्तान से अपमानित होकर सोवियत सेनाओं को वापस आना पड़ा है। ६ नवम्बर १९६६ के ऐतिहासिक दिवस पर जब दवी सम्पदा के प्रतीक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र जी के जन्म स्थान का पुनरुद्धार करने का पवित्र शिलान्यास कार्यक्रम सम्पन्न हो रहा था तब घोर भौतिकतावादी एवं आसुरी शक्ति की प्रतीक बर्लिन की कम्युनिस्ट साम्राज्यवादी दीवार को वहाँ के लोगों ने ढहा दिया था। उसके बाद सोवियत संघ अपनी दिवालिया हो रही वित्तीय आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये पूंजीवाद की बाजार अर्थ व्यवस्था को स्वीकार कर

चुका था। सैनिक तैयारी और सामरिक शस्त्रास्त्रों या विनाशकारी आणविक आयुधों का जखीरा खड़ा करना सोवियत संघ का कल्याण नहीं कर सका था। हाँ, उसने सोवियत संघ के नागरिकों को दो समय की रोटी के लिये आवश्यक खाद्यान्न मुहैया कराना भी असंभव कर दिया था। फलस्वरूप गोर्बाचेव को एक के बाद एक दो सामरिक शस्त्र परिसीमन संधि करने पर विवश होना पड़ा था। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण जुलाई मास में पार्टी की केन्द्रीय समिति की बैठक में महासचिव गोर्बाचेव मार्क्सवाद-लेनिनवाद की भर्त्सना कर देने पर विवश हो गये थे। लेनिनग्राद के निवासियों ने कम्युनिस्ट क्रान्ति के जनक लेनिन की यादगार को ठुकराकर अपने नगर का नाम फिर से सेंट पीटर्सबर्ग करने का संकल्प जनमत संग्रह द्वारा अभिव्यक्त कर दिया था। लटविया, लिथुआनिया, एस्टोनिया के तीन बाल्टिक राज्यों के साथ-साथ अन्य गणराज्य भी सोवियत संघ के नेतृत्व में कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद के जुए को पूरी तरह उखाड़ फेंकने के लिये बेचैन हो उठे थे। संक्षेप में १९१७ की क्रांति ने घड़ी की सुई का पूरा चक्कर लगाकर उस कम्युनिस्ट क्रान्ति को दफना देने का वातावरण उत्पन्न कर दिया था।

अतः ऐसी स्थिति में प्रतिक्रान्ति का आठ सदस्यीय डबल चांडाल चौकड़ी का कुप्रयास कैसे सफल हो सकता था? सोवियत जनता के साथ-साथ शासन-व्यवस्था से जुड़ी प्रत्येक इकाई उनको घृणा की दृष्टि से देख रही थी। इसीलिये पार्टी, सेना, सुरक्षा बल, कुख्यात गुप्तचर संस्था के० जी० बी० सभी में तो विभाजन हो गया और जनज्वार या जन-रोष के इस संगठित तूफान का मुकाबला वह डबल चांडाल चौकड़ी न कर सकी।

अब तो स्थिति यह है कि सोवियत संघ में कम्युनिस्ट पार्टी गैर-कानूनी घोषित हो गई है। उसकी सम्पूर्ण चल-अचल सम्पत्ति जब्त कर ली गयी है। सेना, सुरक्षा बल, प्रशासन, गुप्तचर संस्था के० जी० बी०, कल-कारखानों, विद्यार्थी संगठनों, कर्मचारी यूनियनों आदि सभी में उसकी गति-

विधियाँ बन्द कर दी गयी है। पन्द्रह गणराज्यों में से अधिकांश गणराज्य सोवियत संघ से पृथक होकर अपनी सार्वभौम स्वतंत्रता की घोषणा कर चुके हैं। संक्षेप में सोवियत संघ में दो क्रान्तियाँ एक साथ हो रही हैं। पहली क्रान्ति के द्वारा वहाँ की जनता ने ७४ वर्ष पूर्व हुई लेनिन मार्कस कम्युनिस्ट क्रान्ति को ठुकरा दिया है और दूसरी क्रान्ति का सहारा लेकर उसने ४०० वर्ष पूर्व पीटर महान द्वारा खड़े किये गये उस रूसी साम्राज्य-वाद को भस्मसात कर दिया है, जिसकी स्वाभाविक उत्तराधिकारिणी १९१७ की लेनिनवादी कम्युनिस्ट क्रान्ति थी। एक वाक्य में कहना हो तो क्रान्ति ही क्रान्ति को खा गयी है, यह सोवियत संघ में घटित हो चुका है।

[illegible]

सन्दर्भग्रन्थ

- Adam B. Ulam : Lenin & Bolsheviks
- Ameury Reincourt : Soul of India
- Bertram D Wolfe : Three Who Made A Revolution
4. Bertrand Russell : The Practice & Theory of Bolshevism
5. C.L. Wayper : Political Thought
6. Edward Crankshaw : Russia By Daylight
7. E.M.S. Namboodripad : The Motherland of Malyalees
8. " " : Kerala— Yesterday, Today & Tomorrow
9. Francis W. Coker : Recent Political Thought
10. George Sabine : History of Political Theories
11. Harold J. Laski : Communism
12. Issac Deutscher : Unfinished Revolution
13. John Reed : Ten Days That Shook The World
4. Leon Trotsky : The History of Russian Revolution
15. Marshall Wind Miller : Communisma In India
16. M.R. Masani : Communist Party of India—
A Brief History
7. Robert Payne : The Life And Death of Lenin
8. दत्तोपन्त ठेंगड़ी : कम्युनिज्म अपनी ही कसौटी पर
19. रंगा हरि : अपना केरल
20. विवेक सत्यार्थी : कम्युनिस्ट बेनकाब
21. विनायक सदाशिव वालिम्बे : जब वोल्गा लाल हो गयी
(दो भागों में)

❀ हमारे नवीन प्रकाशन ❀



—भारत विरोधी षडयन्त्र में 'उल्फा' १.००

★ श्री गुरुजी, हो०वे० शेषाद्रि,

के० सूर्य नारायण राव, भाऊराव देवरस
—सेवा भारती १.००

★ हो०वे० शेषाद्रि, दत्तोपंत ठेंगड़ी

—बाबा साहब अम्बेडकर १.००

★ प्रताप नारायण मिश्र

१—मेवाड़ की कथायें (भाग १) १०.००
२— " " (भाग २) ८.००
३— " " (भाग ३) ६.००
४— " " (भाग ४) ५.००

★ राणा प्रताप सिंह

महाभारत कथा

१—धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे (भाग-१) ७.००

२—धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे (भाग-२) ६.००

★ प्र० ग० सहस्रबुद्धे

१—शिवाजी के सहयोगी (कथा-१)
बालाजी आवजी ३.००

२—शिवाजी के सहयोगी (कथा-२)
नेताजी पालकर ४.००

३—तानाजी मालुसरे (कथा-३) ४.००

४—येसाजी कंक (कथा-४) ३.००

★ ना० ह० पालकर

—भगवा छवज ५.००

व्यवस्थापक

लोकहित प्रकाशन

राजेन्द्र नगर, लखनऊ